॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [११]

अध्यात्मकल्पद्रुम

[गाथा और अर्थ]

—: प्रकाशक :—

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

साबरमती, अहमदाबाद

॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [११]

अध्यात्मकल्पद्रुम

[गाथा और अर्थ]

कर्ता :– पू.आ.मुनिसुन्दरजी म.सा.

पूर्वसम्पादक :– पू.आ.हेमप्रभसूरीश्वरजी म.सा.

–: संकलन :–

श्रुतोपासक

–: प्रकाशक :–

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

शा. वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अमदाबाद-३८०००५

Mo. 9426585904

email - ahoshrut.bs@gmail.com

प्रकाशक : श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

प्रकाशन : संवत २०७४

आवृत्ति : प्रथम

ज्ञाननिधि में से
पू. संयमी भगवंतो और ज्ञानभण्डार को भेट...
गृहस्थ किसी भी संघ के ज्ञान खाते में
३० रुपये अर्पण करके मालिकी कर सकते हैं।

प्राप्तिस्थान :

(१) सरेमल जवेरचंद फाईनफेब (प्रा.) ली.
672/11, बोम्बे मार्केट, रेलवेपुरा, अहमदाबाद-३८०००२
फोन : 22132543 (मो.) 9426585904

(२) कुलीन के. शाह
आदिनाथ मेडीसीन, Tu-02 शंखेश्वर कोम्पलेक्ष, कैलाशनगर, सुरत
(मो.) 9574696000

(३) शा. रमेशकुमार एच. जैन
A-901 गुंदेचा गार्डन, लालबाग, मुंबई-१२.
(मो.) 9820016941

(४) श्री विनीत जैन
जगद्‌गुरु हीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञानभण्डार,
चंदनबाला भवन, १२९, शाहुकर पेठ के पास, मीन्ट स्ट्रीट, चेन्नाई-१
फोन : 044-23463107 (मो.) 9389096009

(५) शा. हसमुखलाल शान्तीलाल राठोड
७/८ वीरभारत सोसायटी, टीम्बर मार्केट, भवानीपेठ, पूना.
(मो.) 9422315985

मुद्रक : विरति ग्राफिक्स, अहमदाबाद, मो. **8530520629**
Email Id: Virtigrafics2893@gmail.com

अध्यात्मकल्पद्रुम

जयश्रीरांतरारीणां, लेभे येन प्रशान्तितः ।
तं श्रीवीरजिनं नत्वा, रसः शान्तो विभाव्यते ॥१॥

अर्थ – ''जिन श्री वीरभगवान ने उत्कृष्ट शान्ति से अपने अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली है उन परमात्मा को मैं नमस्कार कर शान्तरस की भावना करता हूँ.''

सर्वमंगलनिधौ हृदि यस्मिन्,
संगते निरुपमं सुखमेति ।
मुक्तिशर्म च वशीभवति द्राक्,
तं बुधा भजत शांतरसेंद्रम् ॥२॥

अर्थ – ''सर्व मांगलिकों का निधान ऐसा शान्तरस जिस हृदय में प्राप्त हो जाता है वह अनुपम सुख का उपभोग करता है और मोक्षसुख शीघ्र उसके आधिपत्य में आ जाता है। हे पंडितों ! ऐसे शान्तरस को तुम भजो–सेवा करो भावो !''

समतैकलीनचित्तो, ललनापत्यस्वदेहममतामुक् ।
विषयकषायाद्यवशः, शास्त्रगुणैर्दमितचेतस्कः ॥३॥
वैराग्यशुद्धधर्मा, देवादिसतत्त्वविद्विरतिधारी ।
संवरवान् शुभवृत्तिः, साम्यरहस्यं भज शिवार्थिन् ॥४॥

अर्थ – ''हे मोक्षार्थी प्राणी ! तू समता विषय में लीन चित्तवाला हो, स्त्री, पुत्र, पैसा और शरीर पर से ममता छोड दे, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषय और

क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों के वशीभूत न हो, शास्त्ररूप लगाम से अपने मनरूप अश्व को काबू में रख, वैराग्य प्राप्तकर शुद्ध-निष्कलंक धर्मवान बन (साधु के दश प्रकार के यतिधर्म और श्रावक के बारह व्रतों का आत्मगुणों में रमणता करनेवाला शुद्ध धर्मवाला बन,) देवगुरुधर्म का शुद्ध स्वरूप जाननेवाला बन, सर्व प्रकार के सावद्य योग से निवृत्तिरूप विरति धारण कर, (सत्तावन प्रकार के) संवरवाला बन, अपनी वृत्तियों को शुद्ध रख और समता के रहस्य को भज ।''

चित्तबालक ! मा त्याक्षी-रजस्त्रं भावनौषधीः ।
यत्त्वां दुर्ध्यानभूता न, च्छलयन्ति छलान्विषः ॥५॥

अर्थ - ''हे चित्तरूप बालक ! तू सदैव भावनारूप औषधियों का थोड़े समय के लिये भी परित्याग न कर जिससे छलयुत दुर्ध्यानरूप भूत-पिशाच तुझे कष्ट न पहुँचा सकें ।''

यदिंद्रियार्थैः सकलैः सुखं,
स्यान्नरेन्द्रचक्रित्रिदशाधिपानाम् ।
तद्बिंदवत्येव पुरो हि साम्य-
सुधां बुधस्तेन तमाद्रियस्व ॥६॥

अर्थ - ''राजा, चक्रवर्ती और देवताओं के स्वामी इन्द्रों को सर्व इन्द्रियों के अर्थों से जो सुख होता है वह समता के सुखसमुद्र के सामने सचमुच एक बिन्दु के समान

है, अतः समता के सुख को प्राप्त कर ।''

अदृष्टवैचित्र्यवशाज्जगज्जने,
विचित्रकर्माशयवाग्विसंस्थुले ।
उदासवृत्तिस्थितिचित्तवृत्तयः,
सुखं श्रयन्ते यतयः क्षतार्तयः ॥७॥

अर्थ – ''जबकि जगत् के प्राणी पुण्य तथा पाप की विचित्रता के अधीन हैं, और अनेक प्रकार के काया के व्यापार, मन के व्यापार तथा वचन के व्यापार से अस्वस्थ (अस्थिर) हैं, उस समय जिनकी माध्यस्थवृत्ति में चित्तवृत्ति लगी हुई है, और जिनकि मन की व्याधियँ नष्ट हो गई हैं वे यति सच्चे सुख का उपभोग करते हैं ।''

विश्वजंतुषु यदि क्षणमेकं, साम्यतो भजसि मानस ! मैत्रीम् ।
तत्सुखं परममंत्र, परत्राप्यश्नुषे न यदभूत्तवजातु ॥८॥

अर्थ – ''हे मन ! यदि तू सर्व प्राणी पर समतापूर्वक क्षण भर भी परहितचिन्तारूप मैत्रीभाव रखे तो तुझे इस भव और परभव में ऐसा सुख मिलेगा, जिसका तूने कभी अनुभव भी नहीं किया होगा ।''

न यस्य मित्रं न च केऽपि शत्रु–
र्निजः परो वापि न कञ्चनास्ते ।
न चेन्द्रियार्थेषु रमेत चेतः,
कषायमुक्तः परमः सयोगी ॥९॥

अर्थ – ''जिसके कोई भी मित्र नहीं और कोई भी शत्रु

नहीं; जिस के कोई अपना नहीं और पराया नहीं, जिसका मन कषाय रहित हो और इन्द्रियों के विषयों में रमण न करता हो, ऐसा पुरुष महायोगी है ।''

भजस्व मैत्रीं जगदंगिराशिषु,
प्रमोदमात्मन् गुणिषु त्वशेषतः ।
भवार्त्तिदीनेषु कृपारसं सदा-
प्युदासवृर्तिं खलु निर्गुणेष्वपि ॥१०॥

अर्थ - ''हे आत्मा ! जगत के सर्व जीवों पर मैत्रीभाव रख, सभी गुणवान् पुरुषों की ओर संतोष दृष्टि से देख, भव (संसार) की पीड़ा से दुःखी प्राणियों पर कृपा कर और निर्गुणी प्राणियों पर उदासवृत्ति-माध्यस्थ भाव रख ।''

मैत्री परस्मिन् हितधीः समग्रे, भवेत्प्रमोदो गुणपक्षपातः ।
कृपा भवार्त्ते प्रतिकर्तुमीहोपेक्षैव माध्यस्थ्यमवार्यदोषे ॥११॥

अर्थ - ''अन्य सभी प्राणियों पर हित करने की बुद्धि यह (प्रथम) मैत्री भावना, गुण का पक्षपात यह (दूसरी) प्रमोद भावना, भवरूप व्याधि से दुःखी प्राणियों को भाव औषधि से निरोग बनाने की अभिलाषा यह (तीसरी) कृपा भावना, न छूट सके ऐसे दोषवाले प्राणियों पर उदासीन भाव यह (चौथी) माध्यस्थ्य भावना ।''

परहितचिंता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥१२॥

अर्थ – "(आत्मव्यतिरिक्त) अन्य प्राणियों का हित विचारना यह मैत्री भावना, दूसरों के दुःखों को नाश करने की इच्छा अथवा चिंता से करुणा भावना, दूसरे के सुख को देखकर आनन्द मानना यह प्रमोद भावना और दूसरों के दोषों की उपेक्षा करना यह उपेक्षा भावना ।"

मा कार्षीत्कोऽपि पापानि, मा च भूत्कोऽपि दुःखितः ।
मच्यतां जगदप्येषा, मतिर्मैत्री निगद्यते ॥१३॥

अर्थ – "कोई भी प्राणी पाप न करो, कोई भी जीव दुःखी न हो, इस जगत कर्म से बचो–ऐसी बुद्धि को मैत्री कहते हैं ।"

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम् ।
गुणेषु पक्षपातो यः, स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥१४॥

अर्थ – "जिन्होंने सर्व दोषों को दूर कर दिया है और जो वस्तुतत्त्व को देख रहे हैं उनके गुणों पर पक्षपात रखना वह प्रमोद भावना कहलाती है ।"

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु, याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतिकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभिधीयते ॥१५॥

अर्थ – "अशक्त, दुःखी, भय से व्याकुल और जीवन याचना करनेवाले प्राणियों के दुःख दूर करने की जो बुद्धि है वह करुणाभावना कहलाती है ।"

क्रूरकर्मसु निःशंकं, देवतागुरुनिंदिषु ।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥१६॥

अर्थ – "निःशंक होकर क्रूर कर्म करनेवाले, देव और गुरु की

निन्दा करनेवाले और आत्मश्लाघा करनेवाले प्राणियों पर उपेक्षा यह माध्यस्थ (अथवा उदासीन) भावना कहलाती है।"

चेतनेतरगतेष्वखिलेषु,
स्पर्शरूपरवगंधरसेषु ।
साम्यमेष्यति यदा तव चेतः,
पाणिगं शिवसुखं हि तदात्मन् ॥१७॥

अर्थ – "हे चेतन ! सर्व चेतन और अचेतन पदार्थों में होनेवाले स्पर्श, रूप, रव (शब्द), गंध और रस में जब तेरा चित्त समता पायेगा, तब मोक्षसुख तेरे हाथ में आ जायगा।"

के गुणास्तव यतः स्तुतिमिच्छस्यद्भुतं,
किमकृथा मदवान् यत् ।
कैर्गता नरकभीः सुकृतैस्ते,
किं जितः पितृपतिर्यदचिन्तः ॥१८॥

अर्थ – "तेरे में क्या गुण है कि तू स्तुति की इच्छा रखता है ? तूने कौन सा बड़ा आश्चर्यकारी काम किया है कि तू अहंकार करता है ? (तेरे) किन सुकृत्यों से तेरी नरक की पीड़ा दूर हो गई है ? क्या तूने यम को जीत लिया है कि जिससे तू चिन्ता रहित हो गया है ?"

गुणस्तवैर्यो गुणिनां परेषा–
माक्रोशनिंदादिभिरात्मनश्च ।
मनः समं शीलति मोदते वा,
खिद्यते च व्यत्ययतः स वेत्ता ॥१९॥

अर्थ – ''दूसरे गुणवान् प्राणियों के गुणों की स्तुति करते समय, अन्य पुरुष अपने ऊपर क्रोध करें अथवा अपनी निन्दा करें उस समय, जो अपने मन को स्थिर रखता है अथवा उस समय जो आनंदित होता है और इसके विरुद्ध बात होने पर (जैसे परगुणनिन्दा अथवा आत्मप्रशंसा होने पर) जो दुःखी होता है वह प्राणी ज्ञानी कहलाता है ॥१९॥''

न वेत्सि शत्रुन् सुहृदश्च नैव,
हिताहिते स्वं न परं च जंतोः ।
दुःखं द्विषन् वांछसि शर्म,
चैतन्निदानमूढः कथमाप्स्यसीष्टम् ॥२०॥

अर्थ – ''हे आत्मन् ! तू अपने शत्रु और मित्र को नहीं पहचानता है; कौन तेरा हितकर और कौन तेरा अहितकर है इस को नहीं जानता है और कौन तेरा अपना तथा कौन पराया है यह भी नहीं जानता है, (और) तू दुःख पर द्वेष करता है और सुख मिलने की इच्छा करता है, परन्तु उनके कारणों को नहीं जानता फिर तू कैसे अपनी इच्छित वस्तु पा सकेगा ?''

कृति हि सर्व परिणामरम्यं,
विचार्य गृह्णाति चिरस्थितीह ।
भवान्तरेऽनन्तसुखाप्तये,
तदात्मन् किमाचारमिमं जहासि ॥२१॥

अर्थ – "इस संसार में जो विचारशील पुरुष होते हैं वे तो विचार करके ऐसी वस्तु को ग्रहण करते हैं, जो लाखों वर्षो तक चलती है और परिणाम में भी सुन्दर होती है, तो फिर हे चेतन ! इस भव के बाद अनन्तसुख दिलानेवाले इस धार्मिक आचार को तू क्यों छोड़ देता है ?" ॥२१॥

निजः परो वेति कृतो विभागो,
रागादिभिस्ते त्वरयस्तवात्मन् ।
चतुर्गतिक्लेशविधानतस्तत्,
प्रमाणयन्नस्यरिनिर्मितं किम् ॥२२॥

अर्थ – "हे चेतन ! तेरा अपना और पराया ऐसा विभाग रागद्वेष के द्वारा किया हुआ है। चारों गतियों में तुझे अनेक प्रकार के क्लेश पहुँचानेवाले होने के कारण राग-द्वेष तो तेरे शत्रु हैं। शत्रुओं के द्वारा किये हुए विभाग को तू क्यों स्वीकार करता है ? ॥२२॥"

अनादिरात्मा न निजः परो वा,
कस्यापि कश्चिन्न रिपुः सुहृदा ।
स्थिरा न देहाकृतयोऽणवश्च,
तथापि साम्यं किमुपैषि नैषु ॥२३॥

अर्थ – "आत्मा अनादि है, किसी का कोई अपना नहीं और कोई पराया नहीं, कोई शत्रु नहीं और कोई मित्र नहीं देह की आकृति और (उसमें रहनेवाले) परमाणु स्थिर नहीं-फिर भी उनमें तू समता क्यों नहीं रखता ?"॥२३॥

यथा विदां लेप्यमया न तत्त्वात्, सुखाय मातापितृपुत्रदाराः ।
तथा परेऽपीह विशीर्णतत्तदा कारमेतद्धि समं समग्रम् ।।२४।।

अर्थ – "जिस प्रकार चित्र में अंकित माता, पिता, पुत्र और स्त्री वास्तविक रूप से समझदार आदमी को सुख नहीं देते उसी प्रकार इस संसार में रहनेवाले प्रत्यक्ष मातापितादि सुख नहीं देते । इन दोनों का आकार नाशवंत है, अतः ये दोनों एक ही समान हैं ।" ।।२४।।

जानन्ति कामान्निखिलाः ससंज्ञा,
अर्थं नराः केऽपि च केऽपि धर्मम् ।
जैनं च केचिद् गुरुदेवशुद्धं,
केचित् शिवं केऽपि च केऽपि साम्यम् ।।२५।।

अर्थ – "सर्व संज्ञावाले प्राणी 'काम' को जानते हैं, उनमें से कुछ अर्थ (धनप्राप्ति) को जानते हैं, और उनमें से भी कुछ धर्म को जानते हैं, उनमें से भी कुछ जैनधर्म को जानते हैं, और उनमें से भी बहुत कम शुद्ध देवगुरुयुक्त जैनधर्म को जानते हैं, उनमें से भी बहुत कम प्राणी मोक्ष को जानते हैं और उनमें से भी बहुत कम प्राणी समता को जानते हैं ।।२५।।"

स्निह्यन्ति तावद्धि निजा निजेषु,
पश्यन्ति यावन्निजमर्थमेभ्या ।
इमां भवेऽत्रापि समीक्ष्य रीतिं,
स्वार्थे न कः प्रेत्यहिते यतेत ।।२६।।

अर्थ – "सगे सम्बन्धी जब तक अपने संबंध में

किसी भी प्रकार का अपना स्वार्थ देखते हैं तब तक ही उनपर स्नेह रखते हैं, इस भव में भी इस प्रकार की रीति देखकर परभव के हितकारी अपने स्वार्थ के लिये कौन प्रयत्न नहीं करता है ?" ॥२६॥

स्वप्नेंद्रजालादिषु यद्वदाप्तै-
रोषश्च तोषश्च मुधा पदार्थैः ।
तथा भवेऽस्मिन् विषयैः समस्तै-
रेवं विभाव्यात्मलयेऽवधेहि ॥२७॥

अर्थ – "जिस प्रकार स्वप्न अथवा इन्द्रजाल आदि के पदार्थों पर रोष तथा तोष करना व्यर्थ है; उसी प्रकार इस भव में प्राप्त हुये पदार्थों पर भी (रोष तथा तोष करना व्यर्थ है) इसप्रकार विचार करके आत्मसमाधि में तत्पर हो ।" ॥२७॥

एष मे जनयिता जननीयं, बंधवः पुनरिमे स्वजनाश्च ।
द्रव्यमेतदिति जातममत्वो, नैव पश्यसि कृतांतवशत्वम् ॥२८

अर्थ – "यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है, ये मेरे भाई हैं और ये मेरे सगे-स्नेही हैं, यह मेरा धन है – इस प्रकार तुझे ममत्व हो गया है, परन्तु इसीसे तू यम के वश में होगा, इसको तू देखता भी नहीं है ।" ॥२८॥

नो धनैः परिजनैः स्वजनैर्वा, दैवतैः परिचितैरपि मंत्रैः ।
रक्ष्यतेऽत्र खलु कोऽपि कृतांतान्नो,
विभावयसि मूढ़ किमेवम् ? ॥२९॥

तैर्भवेऽपि यदहो सुखमिच्छं-
स्तस्य साधनतया प्रतिभातैः ।
मुह्यसि प्रतिकलं विषयेषु,
प्रीतिमेषि न तु साम्यसतत्त्वे ॥३०॥

अर्थ – "धन, सगे-सम्बन्धी, नौकर-चाकर, देवता अथवा परिचित मंत्र, कोई भी यम (मृत्यु) से रक्षा नहीं कर सकता । हे अल्पज्ञ प्राणी ! तू ऐसा विचार क्यों नहीं करता ? सुख मिलने के साधनरूप प्रतीत होनेवाले, (धन, सगा, नौकर आदि में) बड़े संसार में सुख मिलने की इच्छा रखनेवाले हे भाई ! तू प्रत्येक क्षण विषयों में गर्त्त होता जाता है, परन्तु समतारूप सच्चे रहस्य में प्रीति नहीं रखता है" ॥२९-३०॥

किं कषायकलुषं कुरुषे स्वं, केषु चिन्ननु मनोऽरिधियात्मन् ।
तेऽपि ते हि जनकादिरूपैरिष्टतां दधुरनंतभवेषु ॥३१॥

अर्थ - "हे आत्मन् ! कितने ही प्राणियों के साथ शत्रुता रख कर तू अपने मन को क्यों कषायों से मलिन करता है ? (कारण कि) वे तेरे मातापिता आदि के रूप में अनन्त भवों तक तेरी प्रीति के भाजन रह चुके हैं" ॥३१॥

यांश्च शोचसि गताः किमिमे मे,
स्नेहला इति धिया विधुरात्मन् ।
तैर्भवेषु निहतस्त्वमनंते-
ष्वेव तेपि निहता भवता च ॥३२॥

अर्थ - "ये मेरे स्नेही क्यों (मर) गये ! इस प्रकार की

बुद्धि से व्याकुल होकर जिनके लिये तू शोक करता है उन्हीं के द्वारा तू कईबार सताया गया है और वे भी तुझसे कईबार सताये गये हैं।'' ॥३२॥

त्रातुं न शक्या भवदुःखतो ये,
त्वया न ये त्वामपि पातुमीशाः ।
ममत्वमेतेषु दधन्मुधात्मन्,
पदे पदे किं शुचमेषि मूढ़ ! ॥३३॥

अर्थ - ''जिन स्नेहियों को तू भवदुःख से बचाने में अशक्त है और जो तुझे बचाने में असमर्थ हैं उनपर झूठा मोह रखकर हे मूढ़ आत्मन् ! तू पग पग पर क्यों शोक का अनुभव करता है ?'' ॥३३॥

सचेतनाः पुद्गलपिंडजीवा, अर्थाः परे चाणुमया द्वयेऽपि ।
दधत्यनंतान् परिणामभावांस्तत्तेषु कस्त्वर्हति रागरोषौ ॥३४॥

अर्थ - ''पुद्गल पिंड और अधिष्ठित जीव-सचेत पदार्थ हैं और परमाणुमय अर्थ (पैसा) आदि अचेत पदार्थ हैं। इन दोनों प्रकार के पदार्थों में अनेक प्रकार के पर्यायभाव-पलटभाव आते रहते हैं, इससे उनपर राग-द्वेष करने के योग्य कौन है ? ॥३४॥''

• • •

अथ द्वितीयः स्त्रीममत्व-मोचनाधिकारः

मुह्यसि प्रणयचारुगिरासु,
प्रीतितः प्रणयिनीषु कृतिंस्त्वम् ।
किं न वेत्सि पततां भववार्द्धौ,
ता नृणां खलु शिखा गलबद्धाः ॥१॥

अर्थ – "हे विद्वान् ! जो स्त्रियों की वाणी स्नेह से तुझे मधुर जान पड़ती है उनपर प्रीति से तू मोह करता है, परन्तु भवसमुद्र में पड़े हुए प्राणियों के लिये वे गर्दन में बाँधे हुए पत्थर के समान हैं । यह तू क्यों नहीं जानता ?"

चर्मास्थिमज्जांत्रवसास्त्रमांसामेध्या-
द्यशुच्यस्थिरपुद्गलानाम् ।
स्त्रीदेहपिंडाकृतिसंस्थितेषु,
स्कन्धेषु किं पश्यति रम्यमात्मन् ? ॥२॥

अर्थ – "स्त्री के शरीर पिण्ड की आकृति में रहनेवाले चमड़ी, हड्डी, चरबी, आँत, मेद, लहू (रुधिर), मांस, विष्टा आदि अपवित्र और अस्थिर पुद्गलों के समूह में हे आत्मन् ! तू क्या सुन्दरता देखता है । ?"

विलोक्य दूरस्थममेध्यमल्पं,
जुगुप्ससे मोटितनासिकस्त्वं ।
भृतेषु तेनैव विमूढ ! योषावपुःषु,
तत्किं कुरुषेऽभिलाषम् ॥३॥

अर्थ – "हे मूर्ख ! दूरी पर होनेवाली जरा सी भी

दुर्गन्धित वस्तुओं को देखकर तू नाक बंद करके घृणा करता है, तो फिर उसीप्रकार दुर्गन्ध से भरे हुए स्त्रियों के शरीर की तू क्यों अभिलाषा करता है ?"

अमेध्यमांसास्त्रवसात्मकानि,नारीशरीराणि निषेवमाणाः ।
इहाप्यपत्यद्रविणादिचिंतातापान् परत्रेप्रति दुर्गतीश्च ॥४॥

अर्थ – "विष्टा, मांस, रुधिर और चर्बी आदि से भरे हुए स्त्रियों के शरीर का सेवन करनेवाले प्राणी इस भव में भी पुत्र और पैसा आदि चिंताओं का ताप भोगते हैं और परभव में दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।"

अंगेषु येषु परिमुह्यति कामिनीनां,
चेतः प्रसीद विश च क्षणमन्तरेषाम् ।
सम्यक् समीक्ष्य विरमाशुचिपिण्डकेभ्य–
स्तेभ्यश्च शुच्यशुचिवस्तुविचारमिच्छत् ॥५॥

अर्थ – "हे चित्त ! तू स्त्रियों के शरीर पर मोह करता है, लेकिन तू (अस्वस्था छोड़कर) प्रसन्न हो और जिन अंगों पर मोह करता है उनमें प्रवेश कर। तू पवित्र और अपवित्र वस्तु के विचार (विवेक) की इच्छा रखता है, उससे अच्छी तरह विचार करके उस अशुचि के ढेर से छूटकारा प्राप्त कर।"

विमुह्यसि स्मेरदृशः सुमुख्या, मुखेक्षणादीन्यभिवीक्षमाणः ।
समीक्षसे नो नरकेषु तेषु, मोहोद्भवा भाविकदर्थनास्ताः ॥६॥

अर्थ – "विकसित नयनोंवाली और सुन्दर मुखवाली स्त्रियों के नेत्र, मुख आदि को देखकर तू मोह करता है,

परन्तु उनके मोह से भविष्य में उत्पन्न होनेवाली नरक की पीड़ाओं का विचार तू क्यों नहीं करता ?"

अमेध्यभस्त्रा बहुरंध्रनिर्यन् मलाविलोद्यत्कृमिजालकीर्णा ।
चापल्यमायानृतवंचिका स्त्री, संसाकारमोहान्नरकाय भुक्ता ॥७॥

अर्थ – "विष्टा से भरी हुई चमड़े की थैली, बहुत से छिद्रों में से निकलते हुए मल (मूत्र–विष्ठा) से मलिन, योनि में उत्पन्न होनेवाले कीड़ो से परिपूर्ण, चपलता, माया और असत्य (अथवा मायामृषावाद) से ठगनेवाली स्त्रियों का पूर्व संस्कार के मोह से नरक में जाने के लिये ही भोग किया जाता है ।"

निर्भूमिर्विषकंदली गतदरी व्याघ्री निराह्वोमहा–
व्याधिर्मृत्युरकारणश्च ललनाऽनभ्रा च वज्राशनिः ।
बंधुस्नेहविघातसाहसमृषावादादिसंतापभूः,
प्रत्यक्षापि च राक्षसीति बिरुदैः ख्याताऽगमे त्यज्यताम् ॥८॥

अर्थ – "(स्त्री) बिना भूमि से (उत्पन्न हुई) विष की लता है, बिना गुफा की सिंहनी है, बिना नाम की भयंकर व्याधि है, बिना कारण की मृत्यु है, बिना आकाश की बिजली है, सगे अथवा भाइयों के स्नेह का नाश, साहस, मृषावाद आदि संतापों का उत्पत्ति स्थान है और प्रत्यक्ष राक्षसी है – ऐसे ऐसे उपनाम स्त्रियों के लिये आगम में दिये गये हैं, अतः उसको छोड़ दो ।"

● ● ●

अथ तृतीयोऽपत्यममत्वमोचनाधिकारः

मा भूरपत्यान्यवलोकमानो,
मुदाकुलो मोहनृपारिणा यत् ।
चिक्षिप्सया नारकचारकेऽसि,
दृढं निबद्धो निगडैरमीभिः ॥१॥

अर्थ - "तू पुत्र-पुत्री को देखकर प्रसन्न मत हो, कारण कि मोहराजा नामक तेरे शत्रुओं ने तुझे नरकरूप बन्दीखाने में डालने की अभिलाषा से इस (पुत्र-पुत्रीरूप) लोहे की जंजीरों से तुझे कसकर बांधा है ।"

आजीवितं जीव ! भवान्तरेऽपि वा,
शल्यान्यपत्यानि न वेत्सि किं हृदि ?
चलाचलैर्यैर्विविधार्त्तिदानतोऽ-
निशं निहन्येत समाधिरात्मनः ॥२॥

अर्थ - "हे चेतन ! इस भव में और परभव में पुत्र-पुत्री शल्य रूप हैं इसका तू अपने मन में क्यों नहीं विचार करता ? वे थोड़ी अथवा विशेष आयुतक जीवित रहकर तुझे अनेक प्रकार के कष्ट पहुँचाकर तेरी आत्मसमाधि का नाश करते हैं ।"

कुक्षौ युवत्याः कृमयो विचित्रा,
अप्यस्त्रशुक्रप्रभवा भवन्ति ।
न तेषु तस्या न हि तत्पतेश्च,
रागस्ततोऽयं किमपत्यकेषु ? ॥३॥

अर्थ – "पुरुष के वीर्य और स्त्री के रक्त–इन दोनों के संयोग से स्त्री की योनि में विचित्र प्रकार के कीड़े उत्पन्न होते हैं, उन पर स्त्री का तथा उसके पति का राग नहीं होता है तो फिर पुत्रों पर क्यों राग होता है ?"

त्राणाशक्तेरापदि सम्बन्धान–
न्त्यतो मिथोऽगवताम् ।
सन्देहाच्चोपकृते–
र्मापत्येषु स्निहो जीव ॥४॥

अर्थ – "आपत्ति में पालन करने की अशक्ति होने से, प्राणियों के प्रत्येक प्रकार का परस्पर सम्बन्ध अनंत बार होने से और उपकार का बदला मिलने का सन्देह होने से हे जीव ! तू पुत्रपुत्रादि पर स्नेह मत कर ।"

• • •

अथ चतुर्थो धनममत्वमोचनाधिकारः

याः सुखोपकृतिकृत्वधिया त्वं,
मेलयन्नसि रमा ममताभाक् ।
पाप्मनोऽधिकरणत्वत एता,
हेतवो ददति संसृतिपातम् ॥१॥

अर्थ – "लक्ष्मी के लालच से ललचाया हुआ तू (स्व) सुख और उपकार की बुद्धि से जो लक्ष्मी का संग्रह करता है वह अधिकरण होने से पाप का ही हेतुभूत है और संसारभ्रमण करानेवाली है ।"

यानि द्विषामप्युपकारकाणि,
सर्पोन्दुरादिष्वपि यैर्गतिश्च ।
शक्या च नापन्मरणामयाद्या,
हन्तुं धनेष्वेषु क एव मोहः ॥२॥

अर्थ – "जिन पैसों से शत्रु का भी उपकार हो जाता है, जिन पैसों से सर्प, चूहा आदि की गति होती है, जो पैसे मरण, रोग आदि किसी भी आपत्ति को हटाने में समर्थ नहीं है उन पैसों पर मोह क्यों करना चाहिए ?"

ममत्वमात्रेण मनःप्रसाद–
सुखं धनैरल्पकमल्पकालम् ।
आरंभपापैः सुचिरं तु दुःखं,
स्याद्दुर्गतौ दारुणमित्यवेहि ॥३॥

अर्थ – "ये पैसे मेरे हैं इस विचार से मनप्रसादरूप

थोड़ा और थोड़े समय के लिये पैसों से सुख होता है, परन्तु आरम्भ के पाप से दुर्गति में लाखों समय तक भयंकर दुःख होते हैं, इसप्रकार तू समझ ।"

द्रव्यस्तवात्मा धनसाधनो न,
धर्मोऽपि सारम्भतयातिशुद्धः ।
निःसङ्गतात्मा त्वतिशुद्धियोगान्,
मुक्तिश्रियं यच्छति तद्भवेऽपि ॥४॥

अर्थ – "धन के साधन से द्रव्यस्तव स्वरूपवाले धर्म की सिद्धि हो सकती है, परन्तु वह आरम्भयुक्त होने से अति शुद्ध नहीं है, अतः निःसङ्गता स्वरूपवाला धर्म ही अति शुद्ध है और उससे उसी भव में भी मोक्षलक्ष्मी प्राप्त हो सकती है ।"

क्षेत्रवास्तुधनधान्यगवाश्वै-
र्मीलितैः सनिधिभिस्तनुभाजाम् ।
क्लेशपापनरकाभ्यधिकः स्यात्,
को गुणो न यदि धर्मनियोगः ॥५॥

अर्थ – "प्राप्त अथवा प्राप्त होनेवाले क्षेत्र, वस्तुओं (घर आदि), धन, धान्य, गाय, घोड़ा और भण्डार का उपयोग हो धर्मनिमित्त न यदि तो उससे क्लेश (दुःखों), पाप और नरक के सिवाय अन्य क्या विशेष गुण हो सकता है ?"

आरम्भैर्भरितो निमज्जति यतः प्राणी भवाम्भोनिधा-
वीहन्ते कुनृपादयश्च पुरुषा येन च्छलाद् बाधितुम् ।
चिन्ताव्याकुलताकृतेश्च हरते यो धर्मकर्मस्मृतिं,
विज्ञा ! भूरि परिग्रहं त्यजत तं भोग्यं परैः प्रायशः ।।६।।

अर्थ – ''आरम्भ के पाप से भारी हुआ प्राणी जिस धन के लिये संसारसमुद्र में डूबता है, जिस धन के परिग्रह से राजा आदि पुरुष छिद्र ढूंढ़कर दुःख देने की अभिलाषा करते हैं, अनेक चिन्ता में आकुल व्याकुल रखकर जो पैसे धर्मकार्य करने की तो याद भी नहीं आने देते और बहुधा जो दूसरों के ही उपभोग में आते हैं, ऐसे पैसों के बड़े संग्रह का हे ! पंडितो ! तुम त्याग कर दो ।''

क्षेत्रेषु नो वपसि यत्सदपि स्वमेत-
द्यातासि तत्परभवे किमिदं गृहीत्वा ? ।
तस्यार्जनादिजनिताघचयार्जितात्ते,
भावी कथं नरकदुःखभराच्च मोक्षः ? ।।७।।

अर्थ – ''तेरे पास द्रव्य है फिर भी तू (सात) क्षेत्र में व्यय नहीं करता है, क्या तू परभव में धन को अपने साथ ले जाएगा ? यह विचार कर कि धन उपार्जन करने से होनेवाले पापसमूह के नारकीय दुःखों से तेरा मोक्ष (छुटकारा) कैसे होगा ?''

• • •

अथ पञ्चमो देहममत्वमोचनाधिकारः

पुष्णासि यं देहमघान्यचिन्तयं-
स्तवोपकारं कमयं विधास्यति ।
कर्माणि कुर्वन्निति चिन्तयायतिं,
जगत्ययं वञ्चयते हि धूर्त्तराट् ॥१॥

अर्थ - "पाप का विचार न करके जिस शरीर का तू पोषण करता है वह शरीर तेरा क्या उपकार करेगा ? (अतः उस शरीर के लिये हिंसादिक) कर्मों को करते समय भविष्य का विचार कर । यह शरीररूपी धूर्त्तराज प्राणी को संसार में दुःख देता है ।"

कारागृहाद्बहुविधाशुचितादिदुःखा-
न्निर्गन्तुमिच्छति जडोऽपि हि तद्विभिद्य ।
क्षिप्तस्ततोऽधिकतरे वपुषि स्वकर्म-
व्रातेन तद्दृढयितुं यतसे किमात्मन् ? ॥२॥

अर्थ - "जो मूर्ख प्राणी होते हैं वे भी अनेक अशुचि आदि दुःखों से भरे हुए बन्दीखाने को तोड़कर बाहर भागजाने की अभिलाषा करते हैं । अपने कर्मों द्वारा तू उससे भी अधिक सख्त शरीररूपी बन्दीखाने में डाला गया है, लेकिन फिर भी तू तो उस बन्दीखाने को और भी अधिक मजबूत करने का प्रयत्न करता है ।"

चेद्वाञ्छसीदमवितुं परलोकदुःख-
भीत्या ततो न कुरुषे किमु पुण्यमेव ? ।
शक्यं न रक्षितुमिदं हि च दुःखभीति,
पुण्यं विना क्षयमुपैति न वज्रिणोऽपि ॥३॥

अर्थ – "यदि तू अपने शरीर को परलोक में होनेवाले दुःखों से बचाना चाहता है तो पुण्य क्यों नहीं करता ? इस शरीर की किसी भी प्रकार से रक्षा नहीं की जा सकती, इन्द्र जैसे को भी पुण्य के बिना दुःख का भय नष्ट नहीं होता ।"

देहे विमुह्य कुरुषे किमघं न वेत्सि,
देहस्थ एव भजसे भवदुःखजालम् ।
लोहाश्रितो हि सहते घनघातमग्नि-
र्बाधा न तेऽस्य च नभोवदनाश्रयत्वे ॥४॥

अर्थ – "शरीर पर मोह करके तू पाप करता है, किन्तु तुझे यह पता नहीं है कि संसारसमुद्र में जो तू दुःख भोगता है वह शरीर में रहने के कारण ही भोगता है। अग्नि जब तक लोहे में रहता है तब तक ही हथौड़े (धन) की चोट को सहता है, इस लिये जब तू आकाश के समान आश्रयरहित हो जाएगा तो तुझे अथवा अग्नि को कुछ भी कष्ट न होगा।"

दुष्टः कर्मविपाकभूपतिवशः कायाह्वयः कर्मकृत्,
बद्ध्वा कर्मगुणैर्हृषीकचषकैः पीतप्रमादासवम् ।
कृत्वा नारकचारकापदुचितं त्वां प्राप्य चाशुच्छलं,
गन्तेति स्वहिताय संयमभरं तं बाहयाल्पं ददत् ॥५॥

अर्थ – "शरीर नाम का नौकर कर्मविपाक राजा का दुष्ट सेवक है, वह तुझे कर्मरूपी रस्सी से बांधकर इन्द्रियरूपी मद्यपान करने के पात्र से प्रमादरूपी मदिरा पिलाएगा । इस प्रकार तुझे नारकी के दुःख भोगने योग्य बनाकर फिर कोई बहाना लेकर वह सेवक चला जायगा, इसलिये स्वहित के निमित्त इस शरीर को थोड़ा थोड़ा देकर तू संयम का भार वहन करवा ।"

यतः शुचीन्यप्यशुचिभवन्ति,
कृम्याकुलात्काकशुनादिभक्ष्यात् ।
द्राग् भाविनो भस्मतया ततोऽगा-
त्मांसादिपिण्डात् स्वहितं गृहाण ॥६॥

अर्थ – "जिस शरीर के सम्बन्ध से पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं, जो कृमि से भरा हुआ है, जो कौओं तथा कुत्तों के भक्षण करने योग्य है, जो थोड़े समय में राख हो जानेवाला है और जो मांस का पिण्ड है उससे तू तो स्वयं का हित कर ।"

परोपकारोऽस्ति तपो जपो वा,
विनश्वराद्यस्य फलं न देहात् ।
सभाटकादल्पदिनाप्तगेह –
मृत्पिण्डमूढः फलमश्नुते किम् ? ॥७॥

अर्थ "जिस नश्वर शरीर से परोपकार, तप, जपरूप फल नहीं होते हैं उस शरीरवाला प्राणी थोड़े दिनों के लिये किराये पर लिये हुए घररूपी मिट्टी के पिण्ड पर मोह कर क्या फल पायगा ?"

मृत्पिण्डरूपेण विनश्वरेण,
जुगुप्सनीयेन गदालयेन ।
देहेन चेदात्महितं सुसाधं,
धर्मन्न किं तद्यतसेऽत्र मूढ ? ॥८॥

अर्थ – "मिट्टी के पिण्डरूप, नश्वर, दुर्गन्ध और रोग के घरवाले शरीर से जब धर्म करके तेरा स्वहित भली प्रकार सिद्ध किया जा सकता है तो फिर हे मूढ ! इसके लिये यत्न क्यों नहीं करता है ?"

• • •

अथ षष्ठो विषयप्रमादत्यागाधिकारः

अत्यल्पकल्पितसुखाय किमिन्द्रियार्थै-
स्त्वं मुह्यसि प्रतिपदं प्रचुरप्रमादः ।
एते क्षिपन्ति गहने भवभीमकक्षे,
जन्तून्न यत्र सुलभा शिवमार्गदृष्टिः ॥१॥

अर्थ – "बहुत थोड़े और वह भी माने हुए (कल्पित) सुख के लिये तू प्रमादवान् होकर बारंबार इन्द्रियों के विषय में मोह क्यों करता है ? ये विषय प्राणी को संसाररूपी भयंकर गहन वन में फेंक देते हैं, जहाँ से मोक्ष मार्ग का दर्शन भी इस जीव को सुलभ नहीं है ।"

आपातरम्ये परिणामदुःखे,
सुखे कथं वैषयिके रतोऽसि ? ।
जड़ोऽपि कार्यं रचयन् हितार्थी,
करोति विद्वन् यदुदर्कतर्कम् ॥२॥

अर्थ – "एकमात्र भोगते समय सुन्दर जान पड़नेवाले किन्तु परिणाम में दुःख देनेवाले विषयसुख में तू क्यों कर आसक्त हुआ है ? हे निपुण ! स्वहित अभिलाषी मूर्ख पुरुष भी कार्य के परिणाम का तो विचार करता ही है ।"

यदिन्द्रियार्थैरिह शर्म बिन्दव-
द्यदर्णवत्स्वः शिवगं परत्र य ।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता कृतिन्,
विशेषदृष्ट्यन्यतरद् गृहाण तत् ॥३॥

अर्थ – "इन्द्रियों से इस संसार में जो सुख प्राप्त होता है वह बिन्दु के समान है और परलोक में (उसके त्याग से) जो स्वर्ग और मोक्ष का सुख प्राप्त होता है वह समुद्र के समान है । इन दोनों प्रकार के सुखों में परस्पर शत्रुता है । इसलिये हे भाई ! विचार करके उन दोनों में से विशेष एक को ग्रहण कर ।"

भुङ्क्ते कथं नारकतिर्यगादि
दुःखानि देहीत्यवधेहि शास्त्रैः ।
निवर्तते ते विषयेषु तृष्णा,
बिभेषि पापप्रचयाच्च येन ॥४॥

अर्थ – "यह जीव नारकी, तिर्यंच आदि के दुःख क्यों भोगता है ? इसका कारण शास्त्र में भली भाँति प्रकट है उसे पढ़, जिससे विषय पर तृष्णा कम होगी और पाप एकत्र न होंगे ।"

गर्भवासनरकादिवेदनाः,
पश्यतोऽनवरतं श्रुतेक्षणैः ।
नो कषायविषयेषु मानसं,
श्लिष्यते बुध ! विचिन्तयेति ताः ॥५॥

अर्थ – "ज्ञानचक्षुषे गर्भवास, नारकी आदि की वेदनाओं का बारंबार विचार करने के पश्चात् तेरा मन विषयकषाय की ओर आकर्षित नहीं होगा, अतः हे पण्डित ! तू इसके लिये बारंबार विचार कर ।"

वध्यस्य चौरस्य यथा पशोर्वा,
संप्राप्यमाणस्य पदं वधस्य ।
शनैः शनैरेति मृतिः समीपं,
तथाखिलस्येति कथं प्रमादः ? ॥६॥

अर्थ – ''फांसी की सजा पानेवाले चोर के अथवा वध करने के स्थान पर ले जानेवाल पशु की मृत्यु धीरे धीरे समीप आती जाती है, इसीप्रकार सबकी मृत्यु समीप आती रहती है, तो फिर प्रमाद क्यों कर होता ?''

बिभेषि जन्तो ! यदि दुःख राशे,
स्तदिन्द्रियार्थेषु रतिं कृथा मा ।
तदुद्भवं नश्यति शर्म यद्राक्,
नाशे च तस्य ध्रुवमेव दुःखम् ॥७॥

अर्थ – ''हे प्राणी ! यदि तुझे दुःखों से भय है तो इन्द्रियों के विषयों में असक्त क्यों होता है ? उन (विषयों) से उत्पन्न हुआ सुख तो शीघ्र ही नाश होनेवाला है तथा उसके नष्ट हो जाने पर बहुत समय तक दुःख का होना भी निश्चित ही है ।''

मृतः किमुप्रेतपतिर्दुरामया,
गताः क्षयं किं नरकाश्च मुद्रिताः ।
ध्रुवाः किमायुर्धनदेहबंधवः,
सकौतुको यद्विषयौर्विमुह्यसि ॥८॥

अर्थ – ''क्या जम (यम) मर गया है ? क्या दुनिया की अनेक व्याधियाँ नष्ट हो गई हैं ? क्या नरकद्वार बन्द हो गये हैं ? क्या आयुष्य, धन, शरीर और सगे-सम्बन्धी सदैव के लिये अमर हो गये हैं ? जो तू आश्चर्य-हर्षसहित विषयों की ओर विशेषरूप से आकर्षित होता है ?''

विमोह्यसे किं विषयप्रमादै-
र्भ्रमात्सुखस्यायतिदुःखराशेः ।
तद्गर्धमुक्तस्य हि यत्सुखं ते,
गतोपमं चायतिमुक्तिदं तत् ॥९॥

अर्थ – ''भविष्य में जो अनेक दुःखों की राशि है, उनमें सुख के भ्रम से तू विषयप्रमादजन्य बुद्धि से क्यों लुब्ध हुआ जाता है ? उस सुख की अभिलाषा से मुक्तप्राणी को जो सुख होता है वह निरुपम है तथा भविष्य में वह मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला है ।''

• • •

अथ सप्तमः कषायत्यागाधिकारः

रे जीव ! सेहिथ सहिष्यसि च व्यथास्ता-
स्त्वं नारकादिषु पराभवभूः कषायैः ।
मुग्धोदितैः कुवचनादिभिरप्यतः किं ?,
क्रोधान्निहंसि निजपुण्यधनं दुरापम् ॥१॥

अर्थ – "हे जीव ! कषाय से पराभव का स्थान होकर तूने नरक में अनेक कष्ट सहन किये हैं और आगे भी सहन करेगा, तो फिर मूर्ख पुरुषों की दी हुई गाली आदि बुरे वचनों पर क्रोध करके तू अत्यन्त कठिनता से मिलने योग्य पुण्यधन को क्यों नष्ट करता है ?"

पराभिभूतौ यदि मानमुक्ति-
स्ततस्तपोऽखंडमतः शिवं वा ।
मानादृतिर्दुर्वचनादिभिश्चेत्तपः-
क्षयात्तन्नरकादिदुःखम् ॥२॥
वैरादि चात्रेति विचार्य लाभा,
लाभौ कृतिन्नाभवसंभविन्याम् ।
तपोऽथवा मानमवाभिभूता,
विहास्ति नूनं हि गतिर्द्विधैव ॥३॥

अर्थ – "दूसरों की ओर से पराभव होने पर यदि मान का त्याग किया जाए तो उससे अखण्ड तप होता है और उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है । दूसरों की ओर से दुर्वचन सुनने पर यदि मान का आदर किया जाए तो तप का क्षय

होता है और नारकी आदि के दुःख भोगने पड़ते हैं। इस भव में भी मान से वैरविरोध होता है, अतः हे पंडित ! लाभ और हानि का विचार करके इस संसार में जब जब तेरा पराभव हो तब तब तप अथवा मान (दोनों में से एक) का रक्षण कर। इस संसाार में ये दोनों मार्ग हैं (मान करना अथवा तप करना)।"

श्रुत्वा क्रोशान् यो मुदा पूरितःस्यात्,
लोष्टाद्यैर्यश्चाहतो रोमहर्षी।
यः प्राणान्तेऽप्यन्यदोषं न,
पश्यत्येष श्रेयो द्राग् लभेतैव योगी ॥४॥

अर्थ – "जो आक्रोश (पराभव वचन, ताड़ना) सुनकर आनन्द से प्रफुल्लित हो जाता है, जिसपर पत्थर भी फेंके गये हों तो भी जिसके रोमरोम विकस्वर हो जाते हैं, जो प्राणों के अन्त हो जाने पर भी दूसरों के अवगुणों की ओर ध्यान नहीं देता है, वही योगी है और वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है।"

को गुणस्तव कदा च कषायैर्निर्ममे,
भजसि नित्यमिमान् यत्।
किं न पश्यसि च दोषममीषां ?
तापमत्र नरकं च परत्र ॥५॥

अर्थ – "कषायों ने तेरा कौन सा गुण (हित) किया ? वह गुण (हित) कब किया कि तू हमेशा उनकी सेवा करता

है ? इस भव में संताप और परभव में नरक देने रूप अनेक दोष हैं यह तू क्यों नहीं देखता है ?''

यत्कषायजनितं तव सौख्यं, यत्कषायपरिहानिभवं च ।
तद्विशेषमथवैतदुदर्कं, संविभाव्य भज धीर ! विशिष्टम् ॥६॥

अर्थ – ''कषायसेवन से तुझे जो सुख हो और कषाय के क्षय से तुझे जो सुख हो उनमें अधिक सुख किसमें है ? अथवा कषाय का और उसके त्याग का क्या परिणाम है ? उसका विचार करके हे पंडित ! उन दोनों में से जो अच्छा हो उसीका आदर कर ।''

सुखेन साध्या तपसां प्रवृत्ति-
र्यथा तथा नैव तु मानमुक्तिः ।
आद्या न दत्तेऽपि शिवं परा तु,
निदर्शनाद्बाहुबलेः प्रदत्ते ॥७॥

अर्थ – ''जिसप्रकार तपस्या में प्रवृत्ति करना सहज है उसप्रकार मान का त्याग करना सहज नहीं है । केवल तपस्या की प्रवृत्ति मोक्ष की प्राप्ति नहीं करा सकती है, किन्तु मान का त्याग तो बाहुबलि के दृष्टान्त के समान मोक्ष की अवश्यमेव प्राप्ति करा सकता है ।''

सम्यग्विचार्येति विहाय मानं,
रक्षन् दुरापाणि तपांसि यत्नात् ।
मुदामनीषी सहतेऽभिभूतीः,
शूरः क्षमायामपि नीचजाताः ॥८॥

अर्थ – ''इसप्रकार ठीक ठीक विचार करके मान का परित्याग कर और अत्यन्त कष्ट से मिलनेवाले तप का यत्न से रक्षण करके क्षमा करने में शूरवीर पंडित साधु नीच पुरुषों द्वारा किये हुए अपमान को भी प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं।''

पराभिभूत्याल्पिकयापिकुप्य–
स्यघैरपीमां प्रतिकर्तुमिच्छन् ।
न वेत्सि तिर्यङ्नरकादिकेषु,
तास्तैरनन्तास्त्वतुला भवित्रीः ॥९॥

अर्थ – ''साधारण पराभव से भी तू कोप करता है और कितने ही पापकर्मो से उसका वैर लेने की अभिलाषा करता है, परन्तु नारकी, तिर्यंच आदि गतियों में जो बेहद अतुल परकृत दुःख होनेवाले हैं उनको तो तू न तो देखता है, न ही विचार करता है।''

धत्से कृतिन् ! यद्यपकारकेषु,
क्रोधंस्ततो धेह्यरिषट्क एव ।
अथोपकारिष्विपि तद्भवार्त्ति–
कृत्कर्महृन्मित्रबहिर्द्विषत्सु ॥१०॥

अर्थ – ''हे पण्डित यदि तू अपने अहित करनेवाले के ऊपर क्रोध करना चाहता है तो षट् रिपु (छः शत्रु–काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष) पर क्रोध कर, और जो यदि तू अपने हित करनेवाले के ऊपर भी क्रोध करना चाहता है तो संसार में

होनेवाले सभी कष्टों के दाता कर्मों को हरनेवाले (उपसर्गों, परिषहों आदि) जो तेरे वास्तविक हितेच्छु है किन्तु बाह्य दृष्टि से जो तुझे शत्रु जान पड़ते हैं उनपर क्रोध कर।"

अधीत्यनुष्ठानतपःशमाद्यान्,
धर्मान् विचित्रान् विदधत्समायान् ।
न लप्स्यसे तत्फलमात्मदेह-
क्लेशाधिकं तांश्च भवान्तरेषु ॥११॥

अर्थ - "शास्त्राभ्यास, धर्मानुष्ठान, तपस्या, शम आदि अनेक धर्मों अथवा धर्मकार्यों को माया के साथ करता है, जिससे तेरे शरीर को क्लेश होने के उपरान्त भवान्तर में भी अन्य कोई फल नहीं मिल सकता है और वह धर्म भी भवान्तर में मिलना कठिन है।"

सुखाय धत्से यदि लोभमात्मनो,
ज्ञानादिरत्नत्रितये विधेहि तत् ।
दुःखाय चेदत्र परत्र वा कृतिन्,
परिग्रहे तद्बहिरान्तरेऽपि च ॥१२॥

अर्थ - "हे पण्डित ! यदि तू अपने सुख के निमित्त लोभ रखता हो तो ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप तीन रत्नों की प्राप्ति निमित्त लोभ कर और यदि इस भव तथा परभव में दुःख मिलने के निमित्त लोभ रखता हो तो आन्तरिक तथा बाह्य परिग्रह के निमित्त लोभ कर।"

करोषि यत्प्रेत्यहिताय किञ्चित्,
कदाचिदल्पं सुकृतं कथञ्चित् ।
मा जीहरस्तन्मदमत्सराद्यै,
र्विना च तन्मा नरकातिथिर्भूः ॥१३॥

अर्थ – "किसी समय अत्यन्त कठिनता से भी परभव के लिये तुझे यदि अल्पमात्र उत्तम कार्य (सुकृत्य) करने का अवसर प्राप्त हो जाए तो फिर उसका मद मत्सर द्वारा नाश न कर, और सुकृत्य किए बिना नरक का महेमान न बन ।"

पुरापि पापैः पतितोऽसि संसृतौ,
दधासि किं रे गुणिमत्सरं पुनः ? ।
न वेत्सि किं घोरजले निपात्यसे ?
नियंत्र्यसे शृङ्खलया च सर्वतः ॥१४॥

अर्थ – "अरे ! पहले ही तू पापों के द्वारा संसार में पड़ा है, तो फिर और गुणवान् पर इर्ष्या क्यों करता है ? क्या तू नहीं जानता है कि इस पाप से तू गहरे पानी में उतर रहा है और तेरा सम्पूर्ण शरीर सांकलों से जकड़ा हुआ है ।"

कष्टेन धर्मो लवशो मिलत्ययं,
क्षयं कषायैर्युगपत्प्रयाति च ।
अतिप्रयत्नार्जितमर्जुनं ततः,
किमज्ञ ! ही हारयसे नभस्वता ॥१५॥

अर्थ – "महाकष्ट भोगने पर जो थोड़ा थोड़ा करके

'धर्म' प्राप्त होता है वह सब कषाय करने से एक ही झटके में एकदम नाश हो जाता है । हे मूर्ख ! अत्यन्त परिश्रम से प्राप्त किया हुआ सोना एक फूंक मारकर क्यों उड़ा देता है ?"

शत्रूभवन्ति सुहृदः कलुषीभवन्ति,
धर्मा यशांसि निचितायशसीभवन्ति ।
स्निह्यन्ति नैव पितरोऽपि च बान्धवाश्च,
लोकद्वयेऽपि विपदो भविनां कषायैः ॥१६॥

अर्थ – "प्राणी के कषाय से मित्र शत्रु हो जाता है, यश अपयश का घर हो जाता है, माँ बाप भाई तथा सगे स्नेही स्नेह रहित हो जाते हैं, और इस लोक तथा परलोक में अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है ।"

रूपलाभकुलविक्रमविद्या-
श्रीतपोवितरणप्रभुताद्यैः ।
किं मदं वहसि वेत्सि न मूढा-
नन्तशः स्म भृशलाघवदुःखम् ॥१७॥

अर्थ – "रूप, लाभ, कुल, बल, विद्या, लक्ष्मी, तप, दान, ऐश्वर्य्य आदि का मद तू क्या देख कर करता है ? हे मूर्ख ! अनन्त बार जो तुझे लघुता का दुःख सहना पड़ा है क्या तू उसको भूल गया है ?"

विना कषायान्न भवार्तिराशि-
र्भवेद्भवेदेव च तेषु सत्सु ।
मूलं हि संसारतरोः कषायास्त-
त्तान् विहायैव सुखी भवात्मन् ! ॥१८॥

अर्थ – ''बिना कषाय के संसार की अनेकों व्याधियाँ नहीं हो सकती हैं और कषायों के होने पर पीड़ाएँ अवश्यमेव होती हैं । संसारवृक्ष का मूल ही कषाय है । इसलिये हे चेतन ! इनका परित्याग कर सुखी हो ।''

समीक्ष्य तिर्यङ्नरकादिवेदनाः,
श्रुतेक्षणैर्धर्मदुरापतां तथा ।
प्रमोदसे यद्विषयैः सकौतुकैस्-
ततस्तवात्मन् ! विफलैव चेतना ॥१९॥

अर्थ – ''शास्त्ररूपी नैत्रों से तिर्यंच, नारकी आदि की वेदनाओं को जानकर, तथा उसीप्रकार धर्मप्राप्ति की कठिनता को भी जानकर, यदि तू कुतूहलवाले विषयों में आनन्द मानेगा तो हे चेतन ! तेरा चेतनता बिल्कुल व्यर्थ है ।''

चौरैस्तथा कर्मकरैर्गृहीते,
दुष्टैः स्वमात्रेऽप्युपतप्यसे त्वम् ।
पुष्टैः प्रमादैस्तनुभिश्च पुण्य,
धनं न किं वेत्स्यपि लुट्यमानम् ॥२०॥

अर्थ – ''चोर अथवा कामकाज करनेवाले (नौकर-चाकर) जब तेरा थोड़ा सा भी धन व्यय कर देते हैं तब तो

तू क्रोध के मारे लाल लाल हो जाता है, किन्तु पुष्ट अथवा पतले प्रमाद तेरा पुण्यधन लूट लेते हैं वह तो तू जानता भी नहीं है ?"

मृत्योः कोऽपि न रक्षितो न जगतो,
दारिद्र्यमुत्रासितं ।
रोगस्तेन नृपादिजा न च भियो,
निर्णाशिताः षोडश ॥
विध्वस्ता नरका न नापि सुखिता,
धर्मैस्त्रिलोकी सदा ।
तत्को नाम गुणो मदश्च विभुता,
का तो स्तुतीच्छा च का ? ॥२१॥

अर्थ – "हे भाई ! तूने अभीतक किसी भी प्राणी की मृत्यु से रक्षा नहीं की, तूने जगत की कोई द्ररिद्रता दूर नहीं की, तूने रोग, चोर, राजा आदि से किये हुए सोलह मोटे भयों का नाश नही किया, तूने किसी नरकगति का नाश नहीं किया और धर्मद्वारा तूने तीन लोकों को सुखी नहीं किये, तब फिर तेरे अन्दर कौन से गुण हैं, जिसके लिये तू मद करता है ? और फिर ऐसा कोई भी कार्य किये बिना तू किससे स्तुति की अभिलाषा रखता है ? (अथवा क्या तेरे गुण और क्या तेरा मद ! इसीप्रकार कैसा तेरा बड़प्पन और कैसा तेरा खुशामद का प्रेम ! !")

● ● ●

अथाष्टमः शास्त्रगुणाधिकारः

शिलातलाभे हृदि ते वहन्ति,
विशन्ति सिद्धान्तरसा न चान्तः ।
यदत्र नो जीवदयार्द्रता ते,
न भावनाङ्कूरततिश्च लभ्याः ॥१॥

अर्थ – "शिला की सपाटी समान तेरे हृदय पर होकर सिद्धान्तजल बह जाता है, परन्तु वह तेरे अन्दर प्रवेश नहीं करता है, कारण कि उसमें (तेरे हृदय में) जीवदयारूपी गीलापन नहीं है । इसलिये उसमें भावनारूपी अंकुरों की श्रेणी भी नहीं हो सकती है ।"

यस्यागमाम्भोदरसैर्न धौतः,
प्रमादपङ्कः स कथं शिवेच्छुः ?
रसायनैर्यस्य गदाः क्षता नो,
सुदुर्लभं जीवितमस्य नूनम् ॥२॥

अर्थ – "जिस प्राणी का प्रमादरूप कीचड़ सिद्धान्त रूपी वर्षा के जलप्रवाह से नहीं धोया जा सकता वह किस प्रकार मुमुक्षु (मोक्षप्राप्ति का अभिलाषी) हो सकता है ? वस्तुतः, रसायण से भी जो यदि किसी प्राणी की व्याधियों का अन्त न हो सके तो समझना चाहिये कि उसका जीवित रह ही नहीं सकेगा ।"

अधीतिनोऽर्चादिकृते जिनागमः,
प्रमादिनो दुर्गतिपापतेर्मुधा ।
ज्योतिर्विमूढस्य ही दीपपातिनो,
गुणाय कस्मै शलभस्य चक्षुषी ॥३॥

अर्थ – "दुर्गति में पड़नेवाले प्रमादी प्राणी यदि स्वपूजा निमित्त जैनशास्त्र का अभ्यास करते हैं, तो वह निष्फल है। दीपक की ज्योति के लोभ में पड़कर दीपक में गिरनेवाले पतंगियों को उनकी आँखे क्या लाभ देनेवाली हैं ?"

मोदन्ते बहुतर्कतर्कपणचणाः,
केचिज्जयाद्वादिनां ।
काव्यैः केचन कल्पितार्थघटनै,
स्तुष्टाः कविख्यातितः ॥
ज्योतिर्नाटकनीतिलक्षणधनु,
र्वेदादिशास्त्रैः परे ।
ब्रूमः प्रेत्यहिते तु कर्मणि जडान्,
कुक्षिम्भरीनेव तान् ॥४॥

अर्थ – "कितने ही अभ्यासी अनेक प्रकार के तर्कवितर्कों के विचारों में प्रसिद्ध होकर वादियों को जीतकर आनंद का अनुभव करते हैं, कितने ही कल्पना करके काव्य-रचना कर कवि की बड़ाई पाकर आनंद का अनुभव करते हैं और कितने ही ज्योतिषशास्त्र, नाट्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र, धनुर्वेद आदि शास्त्रों के अभ्यास

के द्वारा आनंदित होते हैं, किन्तु आनेवाले भव के हितकारी कार्य की ओर यदि वे अज्ञ (अथवा लापरवाह) हों तो हमें तो उन्हें पेटु (पेट भरनेवाले) ही कहना चाहिये ।"

किं मोदसे पण्डितनाममात्रात् ?
शास्त्रेष्वधीती जनरञ्जकेषु ।
तत्किञ्चनाधीष्व कुरुष्व चाशु,
न ते भवेद्येन भवाब्धिपातः ॥५॥

अर्थ – "लोकरंजनकारक शास्त्रों का तू अभ्यासी होकर पण्डित नाममात्र से क्यों कर प्रसन्न हो जाता है ? तू कोई ऐसा अभ्यास कर या फिर कोई ऐसा अनुष्ठान कर कि जिससे तुझे संसारसमुद्र में पड़ना ही न पड़े ।"

धिगागमैर्माद्यसि रञ्जयन् जनान्,
नोद्यच्छसि प्रेत्यहिताय संयमे ।
दधासि कुक्षिम्भरिमात्रतां मुने,
क्व ते क्व तत् क्वैष च ते भवान्तरे ॥६॥

अर्थ – "हे मुनि ! सिद्धान्तों के द्वारा तू लोगों को रंजन करके प्रसन्न होता है परन्तु स्वयं के आमुष्मिक हितनिमित्त यत्न नहीं करता है अतः तुझे धिक्कार है ! तू एक मात्र उदरपूर्त्ति ही धारण करता है, परन्तु हे मुनि ! भवान्तर में वे तेरे आगम कहाँ जाएँगे, वह तेरा जनरंजन कहाँ जायगा और यह तेरा संयम कहाँ चला जायगा ?"

धन्याः केऽप्यनधीतिनोऽपि, सदनुष्ठानेषु बद्धादरा ।
दुःसाध्येषु परोपदेशलवतः श्रद्धानशुद्धाशयाः ॥
केचित्त्वागमपाठिनोऽपि दधत, स्तत्पुस्तकान् येऽलसाः ।
अत्रामुत्रहितेषु कर्मसु कथं, ते भाविनः प्रेत्यहाः ॥७॥

अर्थ - "कितने ही प्राणियों ने शास्त्र का अभ्यास न किया हो फिर भी दूसरों के थोड़े से उपदेश से कठिनता से होनेवाले शुभ अनुष्ठानों का आदर करने लग जाते हैं और श्रद्धापूर्वक शुभ आशयवाले हो जाते हैं । उनको धन्य है ! कितने ही तो आगम के अभ्यासी होते हैं और पुस्तकें भी साथ लिये फिरते हैं फिर भी इस भव तथा परभव के हितकारी कार्यों में प्रमादी बन जाते हैं और परलोक का नाश कर देते हैं उनका क्या होगा ?"

धन्यः स मुग्धमतिरप्युदिताईदाज्ञा-
रागेण यः सृजति पुण्यमदुर्विकल्पः ।
पाठेन किं व्यसनतोऽस्य तु दुर्विकल्पै-
र्यो दुस्थितोऽत्र सदनुष्ठितिषु प्रमादी ॥८॥

अर्थ - "बुरे संकल्प नहीं करनेवाला और तीर्थंकर महाराज के द्वारा दी गई आज्ञाओं के राग से शुभ क्रिया करनेवाला प्राणी अभ्यास करने में मुग्धबुद्धि हो तो भी भाग्यशाली है। जो प्राणी बुरे संकल्प किया करता है और जो शुभ क्रिया में प्रमादी होता है उस प्राणी को अभ्यास से और उस आदत से क्या लाभ ?"

अधीतिमात्रेण फलन्ति नागमाः,
समीहितैर्जीवसुखैर्भवान्तरे ।
स्वनुष्ठितैः किंतु तदीरितैः खरो,
न यत्सिताया वहनश्रममात्सुखी ॥९॥

अर्थ – "एक मात्र अभ्यास से ही आगम भवान्तर में अभिलषित सुख देकर फलदायक नहीं होते हैं, उनमें बताये गए शुभ अनुष्ठानों के करने से आगम फलदायक होते हैं, जिसप्रकार मिश्री के भार को उठाने मात्र से गदहा सुखी नहीं हो सकता है ।"

दुर्गन्धतो यदणुतोऽपि पुरस्य मृत्यु-
रायूंषि सागरमितान्यनुपक्रमाणि ।
स्पर्शः खरः क्रकचतोऽतितमामितश्च,
दुःखावनन्तगुणितौ भृशशैत्यतापौ ॥१०॥
तीव्रा व्यथाः सुरकृता विविधाश्च यत्रा-
क्रन्दारवैः सततमभ्रभृतोऽप्यमुष्मात् ।
किं भाविनो न नरकात्कुमते बिभेषि,
यन्मोदसे क्षणसुखैर्विषयैः कषायी ॥११॥

अर्थ – "जिस नारकी के दुर्गन्ध के एक सूक्ष्म भाग मात्र से (इस मनुष्यलोक के) नगर की (इतने नगरनिवासी प्राणियों की) मृत्यु हो जाती है, जहाँ सागरोपम के समान आयुष्य भी निरुपक्रम हो जाता है, जिसका स्पर्श करवत से भी अधिक कर्कश है, जहाँ शीत-धूप का दुःख यहाँ से

(मनुष्यलोक से) अनन्तगुणा अधिक है, जहाँ देवताओं को की हुई अनेक प्रकार की वेदनाएँ होती हैं कि जिनके रोने, चिल्लाने और आक्रन्द से सम्पूर्ण आकाश भर जाता है इस प्रकार की नारकी तुझे भविष्य में प्राप्त होनेवाली है, किन्तु हे कुमति ! इसका कुछ भी विचार न कर तू क्यों कषाय करके तथा अल्प समय के लिये सुख देनेवाले विषयों का सेवन करके आनन्द मानता है ?''

बन्धोऽनिशं वाहनताडनानि, क्षुत्तृड्दुरामातपशीतवाताः ।
निजान्यजातीयभयापमृत्युदुःखानितिर्यक्षिति दुस्सहानि॥१२॥

अर्थ - ''निरन्तर बन्धन, भार का वहन, मार, भूख, प्यास, दुष्टरोग, ताप, शीत, पवन, अपनी तथा दूसरी जाति का भय और कुमरण-तिर्यंचगति में ऐसे असह्य दुःख हैं ।''

मुधान्यदास्याभिभवाभ्यसूया,
भियोऽन्तगर्भस्थिति दुर्गतीनाम् ।
एवं सुरेष्वप्यसुखानि नित्यं,
किं तत्सुखैर्वा परिणामदुःखैः ॥१३॥

अर्थ - ''इन्द्रादि की अकारण सेवा करना, पराभव, मत्सर, अंतकाल, गर्भस्थिति और दुर्गति का भय-इसप्रकार देवगति में भी निरन्तर दुःख ही दुःख हैं । अपितु जिसका परिणाम दुःखजन्य हो उस सुख से क्या लाभ ?''

सप्तभीत्यभिभवेष्टविप्लवानिष्टयोगगददुःसुतादिभिः ।
स्याच्चिरं विरसता नृजन्मनः, पुण्यतः सरसतां तदानय ॥१४॥

अर्थ – ''सात भय, पराभव (अपमान), (धो साहुना है) प्रेमी का वियोग, अप्रिय का संयोग, व्याधियाँ, कष्टप्रद सन्तान आदि के कारण मनुष्यजन्म भी अनेक बार निरस हो जाता है, अतः पुण्य के द्वारा मनुष्यजन्म को मधुर बना ।''

इति चतुर्गतिदुःखततीः कृति–
न्नतिभयास्त्वमनन्तमनेहसम् ।
हृदि विभाव्य जिनोक्तकृतान्ततः,
कुरु तथा न यथा स्युरिमास्तव ॥१५॥

अर्थ – ''इसप्रकार अनन्तकालपर्यन्त (सहन की हुई), अतिशय भय उत्पन्न करनेवाली चारों गतियों की दुःखराशियों को केवली भगवन्त के द्वारा कहे हुए सिद्धान्तानुसार हृदय में विचार कर हे विद्वन् ! ऐसा कार्य कर जिससे तुझे ये कष्ट फिर से सहन न करने पड़े ।''

आत्मन् परस्त्वमसि साहसिकः श्रुताक्षै–
र्यद्भाविनं चिरचतुर्गतिदुःखराशिम् ।
पश्यन्नपीह न बिभेषि ततो न तस्य,
विच्छित्तये च यतसे विपरीतकारी ॥१६॥

अर्थ – ''हे आत्मन् ! तू तो असीम साहसी है, कारण कि भविष्यकाल में अनेकों बार होनेवाले चार गतियों के दुःखों को तू ज्ञानचक्षुओं से देखता है, फिर भी उनसे नहीं डरता है, अपितु विपरीत आचरण करके उन दुःखों के नाश के निमित्त अल्पमात्र भी प्रयास नहीं करता है ।''

अथ नवमश्चित्तदमनाधिकारः

कुकर्मजालैः कुविकल्पसूत्रजै-
र्निबध्यगाढं नरकाग्निभिश्चिरम् ।
विसारवत् पक्ष्यति जीव ! हे मनः-
कैवर्तकस्त्वामिति मास्य विश्वसीः ॥१॥

अर्थ – "हे चेतन ! मन धीवर (मछुआरा) कुविकल्प डोरियों से निर्मित कुकर्म जाल बिछाकर उसमें तुझे मजबूती से बाँध कर अनेकों बार मछली के समान नरकाग्नि में भूनेगा, अतः उनका विश्वास न कर ।"

चेतोऽर्थये मयि चिरत्नसख ! प्रसीद,
किं दुर्विकल्पनिकरैः क्षिपसे भवे माम् ?
बद्धोऽञ्जलिः कुरु कृपां भज सद्विकल्पान्,
मैत्रीं कृतार्थय यतो नरकाद्बिभेमि ॥२॥

अर्थ – "हे मन ! मेरे दीर्घकाल के मित्र ! मैं प्रार्थना करता हूँ कि तू मेरे ऊपर कृपा कर। दुष्ट संकल्प करके क्यों मुझे संसार में डालता है ? (तेरे सामने) मैं हाथ जोड़ कर खड़ा हुआ हूँ, मेरे ऊपर कृपादृष्टि कर, उत्तम विचार उत्पन्न कर और अपनी दीर्घकाल की मित्रता को साफ कर-कारण कि मैं नरक से डरता हूँ ।"

स्वर्गापवर्गौ नरकं तथान्त-
र्मुहूर्तमात्रेण वशावशं यत् ।
ददाति जन्तोः सततं प्रयत्नात्,
वशं तदन्तःकरणं कुरुष्व ॥३॥

अर्थ – "वश या अवश मन क्षणभर में स्वर्ग, मोक्ष अथवा नरक अनुक्रम से प्राणी को प्राप्त कराता है, इसलिये यत्न करके उस मन को शीघ्रतया वश में कर ले ।"

सुखाय दुःखाय च नैव देवा,
न चापि कालः सुहृदोऽरयो वा ।
भवेत्परं मानसमेव जन्तोः,
संसारचक्रभ्रमणैकहेतुः ॥४॥

अर्थ – "देवता इस जीव को सुख या दुःख नहीं देते हैं, उसीप्रकार काल भी नहीं, उसीप्रकार मित्र भी नहीं और शत्रु भी नहीं । मनुष्य के संसारचक्र में घूमने का एक मात्र कारण मन ही है ।"

वशं मनो यस्य समाहितं स्यात्,
किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ? ।
हतं मनो यस्य च दुर्विकल्पैः,
किं तस्य कार्यं नियमैर्यमैश्च ? ॥५॥

अर्थ – "जिस प्राणी का मन समाधिवात होकर अपने वशीभूत हो जाता है उसको फिर यम नियम से क्या प्रयोजन ? और जिसका मन दुर्विकल्पों से छिन्नभिन्न किया

हुआ है उसको भी यमनियमों से क्या प्रयोजन ?"

दानश्रुतध्यानतपोऽर्चनादि,
वृथा मनोनिग्रहमन्तरेण ।
कषायचिन्ताकुलतोज्झितस्य,
परो हि योगो मनसो वशत्वम् ॥६॥

अर्थ – "दान, ज्ञान, ध्यान, तप, पूजा आदि सभी मनोनिग्रह के बिना व्यर्थ हैं । कषाय से होनेवाली चिन्ता और व्याकुलता से रहित ऐसे प्राणी का मन को वश में करना महायोग है ।"

जपो न मुक्त्यै न तपो द्विभेदं,
न संयमो नापि दमो न मौनम् ।
न साधनाद्यं पवनादिकस्य,
किं त्वेकमन्तःकरणं सुदान्तम् ॥७॥

अर्थ – "जप करने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, न दो प्रकार के तप करने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, इसी प्रकार संयम, दम, मौनधारण अथवा पवनादि की साधना आदि भी मोक्षप्राप्ति नहीं करा सकती, परन्तु ठीक तरह से वश में किया हुआ केवल एकमात्र मन ही मोक्ष की प्राप्ति करा सकता है !"

लब्ध्वापि धर्मं सकलं जिनोदितं,
सुदुर्लभं पोतनिभं विहाय च ।
मनः पिशाचग्रहिलीकृतः पतन्,
भवाम्बुधौ नायतिदृग् जडो जनः ॥८॥

अर्थ – "संसारसमुद्र में भटकते हुए अत्यन्त कठिनता से प्राप्त करने योग्य, जहाज के सदृश, तीर्थंकरभाषित धर्मरूपी जहाज को प्राप्त करके जो प्राणी मनपिशाच के वशीभूत होकर उस जहाज का परित्याग कर देते हैं और संसारसमुद्र में गिर जाते हैं वे मूर्खपुरुष दीर्घदृष्टिवाले कदापि नहीं कहे जा सकते हैं ।"

सुदुर्जयं ही रिपुवत्यदो मनो,
रिपुकरोत्येव च वाक्तनू अपि ।
त्रिभिर्हतस्तद्रिपुभिः करोतु किं ?
पदीभवन् दुर्विपदां पदे पदे ॥९॥

अर्थ – "अत्यन्त कठिनता से जीता जानेवाला यह मन शत्रु के समान व्यवहार करता है, कारण कि यह वचन तथा काया को भी दुश्मन बना देता है । ऐसे तीन शत्रुओं से घेरा हुआ तू स्थान स्थान पर विपत्तियों का भाजन बनकर क्या कर सकेगा ?"

रे चित्तवैरि ! तव किं नु मयापराद्धं,
यद्दुर्गतौ क्षिपसि मां कुविकल्पजालैः ।
जानासि मामयमपास्य शिवेऽस्ति गन्ता,
तत्किं न सन्ति तव वासपदं ह्यसंख्याः ॥१०॥

अर्थ – "हे चित्तवैरी ! मैने तेरे प्रति ऐसा कौन–सा अपराध किया है जिससे तू मुझे कुविकल्परूप जाल में बांधकर दुर्गति में फेंक देता है ? क्या तू यह मन में विचार

करता है कि यह जीव मुझे छोड़कर मोक्ष में चला जाएगा (अतः मुझे पकड़कर रखता है) ? परंतु क्या तेरे रहने के लिये दूसरे असंख्य स्थान नहीं हैं ?''

पूतिश्रुतिः श्वेव रतेर्विदूरे,
कुष्ठीव संपत्सुदृशामनर्हः ।
श्वपाकवत्सद्‌गतिमन्दिरेषु,
नार्हेत्प्रवेशं कुमनो हतोऽङ्गी ।।११।।

अर्थ – ''जिस प्राणी का मन खराब स्थिति में होने से संताप उठाया करता है, वह प्राणी कृमि से भरपूर कानवाले कुत्ते के समान आनन्द से बहुत दूर रहता है, कोढ़ी के समान लक्ष्मी सुन्दरी को वरने में अयोग्य हो जाता है और चाण्डाल के समान शुभगति मन्दिर में प्रवेश करने योग्य नहीं रहता है ।''

तपोजपाद्याः स्वफलाय धर्मा,
न दुर्विकल्पैर्हत चेतसः स्युः ।
तत्खाद्यपेयैः सुभृतेऽपि गेहे,
क्षुधातृषाभ्यां म्रियते स्वदोषात् ।।१२।।

अर्थ – ''जिस प्राणी का चित्त दुर्विकल्पों से छिन्न-भिन्न किया हुआ है उसको तप-जप आदि धर्म (आत्मिक) फल देनेवाले नहीं है, इस प्रकार का प्राणी खानपान से भरे हुए घर में भी अपने ही स्वजन्य दोषों से क्षुधा तथा तृषावश मृत्यु का शिकार बनता है ।''

अकृच्छ्रसाध्यं मनसो वशीकृतात्,
परं च पुण्यं, न तु यस्य तद्वशम् ।
स वञ्चितः पुण्यचयैस्तदुद्भवैः,
फलैश्च ही ! ही ! हतकः करोतु किम् ? ॥१३॥

अर्थ – "वशीभूत मन से महाउत्तम प्रकार का पुण्य भी बिना कष्ट उठाये ही सिद्ध किया जा सकता है । जिसका मन वश में नहीं होता है उसके पुण्य की राशि भी ठग ली जाती है और उससे होनेवाले फलों में भी ठगा जाता है । (अर्थात् पुण्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है और उससे होनेवाले फलों की प्राप्ति से भी वंचित हो जाता है ।) अहो ! अहो ! ऐसा हतभागी जीव बेचारा क्या करे ? (क्या कर सकता है) ?"

अकारणं यस्य च दुर्विकल्पै–
र्हतं मनः, शास्त्रविदोऽपि नित्यम् ।
घोरैरघैर्निश्चितनारकायु–
र्मृत्यौ प्रयाता नरके स नूनम् ॥१४॥

अर्थ – "जिस प्राणी का मन निरर्थक खराब संकल्पों से निरन्तर प्रभाव को प्राप्त होता है वह प्राणी चाहे जितना भी विद्वान् क्यों न हो फिर भी भयंकर पापों के कारण नारकी का निकाचित आयुष्य बांधता है और मृत्यु के मुँह में जाने पर अवश्य नरकागामी होता है ।"

योगस्य हेतुर्मनसः समाधिः,
परं निदानं तपसश्च योगः ।
तपश्च मूलं शिववशर्मवल्ल्या,
मनः समाधिं भज तत्कथञ्चित् ॥१५॥

अर्थ – "मन की समाधि (एकाग्रता–रागद्वेषरहितपन) योग का कारण है । योग तप का उत्कृष्ट साधन है और तप शिवसुख–लता का मूल है, इसलिये किसी प्रकार से मन की समाधि रख ।"

स्वाध्याययोगैश्चरणक्रियासु,
व्यापारणैर्द्वादशभावनाभिः ।
सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्ति–
फलोपयोगैश्च मनो निरुन्ध्यात् ॥१६॥

अर्थ – "स्वाध्याय (शास्त्र का अभ्यास), योगवहन, चारित्र क्रिया में व्यापार, बारह भावनाएँ और मन–वचन–काया के शुभ अशुभ प्रवृत्ति के फल के चिंतन से सुज्ञ प्राणी मन का निरोध करें ।"

भावनापरिणामेषु, सिंहेष्विव मनोवने ।
सदा जाग्रत्सु दुर्ध्यान–सूकरा न विशन्त्यपि ॥१७॥

अर्थ – "मनरूपी वन में भावना अध्यवसायरूप सिंह जब तक सदा जाग्रत रहता है तबतक दुर्ध्यानरूप सुअर उस वन में प्रवेश भी नहीं कर सकते हैं ।"

● ● ●

अथ दशवाँ वैराग्योपदेशाधिकारः

किं जीव ! माद्यसि हसस्ययमीहसेऽर्थान्,
कामांश्च खेलसि तथा कुतुकैरशङ्कः ।
चिक्षिप्सु घोरनरकावटकोटरे त्वा-
मभ्यापतल्लघु विभावय मृत्युरक्षः ॥१॥
आलम्बनं तव लवादिकुठारघाता-
श्छिन्दन्ति जीविततरुं न हि यावदात्मन् ।
तावद्यतस्व परिणामहिताय तस्मि-
श्छिन्ने हि कः क्व च कथं भवतास्यतन्त्रः ॥२॥

अर्थ - "अरे ! जीव तू क्या देखकर अहंकार करता है ? क्यों हँसता है ? धन तथा कामभोगों की क्यों अभिलाषा करता है ? और किसपर निःशंक होकर कुतूहल से खेल करता है ? क्योंकि नरक के गहरे गड्ढे में ढ़केल देने की अभिलाषा से मृत्युराक्षस तेरे समीप दौड़ता हुआ आ रहा है, किन्तु उसका तो तू ध्यान भी नहीं रखता है ।"

"जबतक लव आदि कुल्हाड़ों के प्रहार तेरे आधाररूप जीवनवृक्ष को न छेदे तबतक हे आत्मन् ! परिणाम में हित होने के निमित्त प्रयास कर, उसको छेद देने के पश्चात् तू परतंत्र हो जायगा उसके पश्चात् न जाने कौन (क्या) होगा ? कहाँ होगा और कैसे होगा ?"

त्वमेव मोग्धा मतिमांस्त्वमात्मन्,
नेष्टाप्यनेष्टा सुखदुःखयोस्त्वम् ।
दाता च भोक्ता च तयोस्त्वमेव,
तच्चेष्टसे किं न यथा हिताप्तिः ॥३॥

अर्थ – "हे आत्मन् ! तू ही मुग्ध (अज्ञानी) है और तू ही ज्ञानी है, सुख की अभिलाषा करनेवाला और दुःख का द्वेष करनेवाला भी तू ही है और सुख-दुःख को देनेवाला तथा भोगनेवाला भी तू ही है, तो फिर स्वहित की प्राप्ति के निमित्त प्रयास क्यों नहीं करता है ?"

कस्ते निरञ्जन ! चिरं जनरञ्जनेन,
धीमन् ! गुणोऽस्ति परमार्थदृशोति पश्य ।
तं रञ्जयाशु विशदैश्चरितैर्भवाब्धौ,
यस्त्वां पतन्तमबलं परिपातुमीष्टे ॥४॥

अर्थ – "हे निर्लेप ! हे बुद्धिमान् ! लाखों बार जनरंजन करने से तुझे कौन-सा गुण प्राप्त होगा उसको परमार्थदृष्टि से तू देख, और विशुद्ध आचरण द्वारा तू तो उसको (धर्म को) रंजन कर, जो निर्बल और संसारसमुद्र में पड़ता हुआ तेरी आत्मा का रक्षण करने को शक्तिमान हो सके ।"

विद्वानहं सकललब्धिरहं नृपोऽहं,
दाताहमद्भुतगुणोऽहमहं गरीयान् ।
इत्याद्यहङ्कृतिवशात्परितोषमेति,
नो वेत्सि किं परभवे लघुतां भवित्रीम् ॥५॥

अर्थ – "मैं विद्वान् हूँ, मैं सर्व लब्धिवाला हूँ, मैं राजा हूँ, मैं दानेश्वरी हूँ, मैं अद्भुत गुणवाला हूँ, मैं बड़ा हूँ ऐसे ऐसे अहंकारों के वशीभूत होकर तू संतोष धारण करता है, परन्तु परभव में होनेवाली लघुता का तू क्यों विचार नहीं करता हैं ?"

वेत्सि स्वरूपफलसाधनबाधनानि,
धर्मस्य, तं प्रभवसि स्ववशश्च कर्तुम् ।
तस्मिन् यतस्व मतिमन्नधुनेत्यमुत्र,
किंचित्त्वया हि नहि सेत्स्यति भोत्स्यते वा ॥६॥

अर्थ – "तू धर्म का स्वरूप, फल, साधन और बाधक को जानता है और तू स्वतंत्रतापूर्वक धर्म करने में समर्थ है। इसलिये तू अभी से (इस भव में ही) उसको करने का प्रयास कर, क्योंकि आगामी भव में तू किसी भी प्रकार की सिद्धि को प्राप्त न कर सकेगा अथवा न जान सकेगा ।"

धर्मस्यावसरोऽस्ति पुद्गलपरावर्तैरनन्तैस्त्वा–
यातःसंप्रति जीव ! हे प्रसहतो दुःखान्यनन्तान्ययम् ।
स्वल्पाहः पुनरेष दुर्लभतमश्चास्मिन् यतस्वार्हतो,
धर्मं कर्तुमिमं विना हि नहि ते दुःखक्षयःकर्हिचित् ॥७॥

अर्थ – "हे चेतन ! अनेक प्रकार से अनेक दुःख सहन करते करते अनन्त पुद्गलपरावर्तन करने के पश्चात् अब तुझे यह धर्म करने का अवसर प्राप्त हुआ है, यह भी अल्पकाल के लिये है, और बार बार ऐसा अवसर प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है, अतः धर्म करने का प्रयास कर। इसके बिना तेरे

दुःखों का कभी भी अन्त नहीं हो सकेगा ।''

गुणस्तुतीर्वाञ्छसि निर्गुणोऽपि,
सुखप्रतिष्ठादि विनापि पुण्यम् ।
अष्टाङ्गयोगं च विनापि सिद्धी-
र्वातूलता कापि नवा तवात्मन् ॥८॥

अर्थ – ''तेरे अन्दर गुण नहीं है फिर भी तू गुण की प्रशंसा सुनना चाहता है, बिना पुण्य के सुख तथा ख्याति की अभिलाषा रखता है, इसीप्रकार अष्टांगयोग के बिना सिद्धियों की वाञ्छा करता है। तेरा बकवास तो कुछ विचित्र ही जान पड़ता है ।''

पदे पदे जीव ! पराभिभूतीः,
पश्यन् किमीर्ष्यस्यधमः परेभ्यः ।
अपुण्यमात्मानमवैषि किं न ?
तनोषि किं वा न हि पुण्यमेव ? ॥९॥

अर्थ – ''हे जीव ! दूसरों द्वारा किये गए अपने पराभव को देखकर तू अधमपन से दूसरों से इर्ष्या क्यों करता है ? तुम अपनी आत्मा को पुण्यहीन क्यों नहीं समझता है ? अथवा पुण्य क्यों नहीं करता है ?''

किमर्दयन्निर्दयमङ्गिनो लघून्,
विचेष्टसे कर्मसु ही प्रमादतः ।
यदेकशोऽप्यन्यकृतार्दनः, सह
त्यनन्तशोऽप्यङ्गययमर्दनं भवे ॥१०॥

अर्थ – "तू प्रमाद से छोटे जीवों को दुःख देनेवाले (कार्यों) कर्मों में निर्दयतापूर्वक क्यों प्रवृत्ति करता है ? प्राणी दूसरों को जो कष्ट एक बार पहुँचाता है वही कष्ट भवान्तर में वह अनन्त बार भोगता है ।"

यथा सर्पमुखस्थोऽपि, भेको जन्तूनि भक्षयेत् ।
तथा मृत्युमुखस्थोऽपि, किमात्मन्नर्दसेंऽङ्गिनः ॥११॥

अर्थ – "जिस प्रकार सर्प के मुह में होते हुए भी मेंढ़क अन्य जन्तुओं का भक्षण करता है इसीप्रकार हे आत्मन् ! तू मृत्यु के मुँह में होने पर भी प्राणियों को क्यों कष्ट पहुँचाता है ?"

आत्मानमल्पैरिह वञ्चयित्वा,
प्रकल्पितैर्वा तनुचित्तसौख्यः ।
भवाधमे किं जन ! सागराणि,
सोढ़ासि ही नारकदुःखराशीन् ॥१२॥

अर्थ – "हे मनुष्य ! थोड़े और वह भी माने हुए शरीर तथा मन के सुख के निमित्त इस भव में अपनी आत्मा को वञ्चित रखकर अधम भवों में सागरोपम तक नारकी के दुःख सहन करेगा ।"

उरभ्रकाकिण्युदबिन्दुकाम्र
वणिक्-त्रयीशाकटभिक्षुकाद्यैः ।
निदर्शनैर्हारितमर्त्यजन्मा,
दुःखी प्रमादैर्बहु शोचितासि ॥१३॥

अर्थ – "प्रमाद करके हे जीव ! तू मनुष्य भव को निरर्थक बना देता है और इसलिये दुःखी होकर बकरा, काकिणी, जलबिन्दु, केरी, तीन बनिये, गाड़ीवान्, भीखारी, आदि के दृष्टान्तों के समान तू बहुत दुःख पायगा ।"

पतङ्गभृङ्गैणखगाहिमीन–
द्विपद्विपारिप्रमुखाः प्रमादैः ।
शोच्या यथा स्युर्मृतिबन्ध–दुःखै,
श्चिरायभावी त्वमपीति जन्तो ! ॥१४॥

अर्थ – "पतंग, भ्रमर, हिरण, पक्षी, सर्प, मछली हाथी, सिंह आदि एक एक इन्द्रिय के विषयरूप प्रमाद के वश हो जाने से जिसप्रकार मरण, बंधन आदि दुखों का कष्ट भोगते हैं, इसीप्रकार हे जीव ! तू भी इन्द्रियों के वशीभूत होकर अनन्त काल तक दुख भोगेगा ।"

पुरापि पापैः पतितोऽसि दुःख–
राशौ पुनर्मूढ ! करोषि तानि ।
मज्जन्महापङ्किलवारिपूरे,
शिला निजे मूर्ध्नि गले च धत्से ॥१५॥

अर्थ – "हे मूढ ! तू पहले भी पापों के कारण दुःखों की राशि में गिरा है और फिर भी उन्हीं का आचरण करता है । अत्यन्त कीचड़वाले भरपूर पानी में गिरते गिरते वास्तव में तू तो अपने गले में और मस्तक पर बड़ा भारी पत्थर बांधता है ?"

पुनः पुनर्जीव तवोपदिश्यते,
बिभेषि दुःखात्सुखमीहसे चेत् ।
कुरुष्व तत्किञ्चन येन वाञ्छितं,
भवेत्तवास्तेऽवसरोऽयमेव यत् ॥१६॥

अर्थ – "हे भाई ! हम तो तुझे बारम्बार यही कहते हैं कि यदि तू दुःखों का भय तथा सुखों की अभिलाषा रखता है तो ऐसा कार्य कर, जिससे तुझे वाञ्छित वस्तु की प्राप्ति हो सके, क्योंकि इस समय तुझे सुअवसर प्राप्त हो गया है (यह तेरा समय है) ।"

धनाङ्गसौख्यस्वजनानसूनपि,
त्यज त्यजैकं न च धर्ममार्हतम् ।
भवन्ति धर्माद्धि भवे भवेऽर्थिता-
न्यमून्यमीभिः पुनरेष दुर्लभः ॥१७॥

अर्थ – "पैसा, शरीर, सुख, सगे-सम्बन्धी और अन्त में प्राण भी छोड़ दे, परन्तु एक वीतराग अर्हत परमात्मा के बताये हुए धर्म को कदापि न छोड़, धर्म से भवोभव में ये पदार्थ, (धन, सुख आदि) प्राप्त होंगे, परन्तु इनसे (धन आदि से) वह (धर्म) मिलना दुर्लभ है ।"

दुःखं यथा बहुविधं सहसेऽप्यकामः,
कामं तथा सहसि चेत्करुणादिभावैः ।
अल्पीयसापि तव तेन भवान्तरे स्या-
दात्यन्तिकी सकलदुःखनिवृत्तिरेव ॥१८॥

अर्थ – "बिना इच्छा के भी जिस प्रकार तू अनेक प्रकार के दुःख भोगता है उसीप्रकार यदि तू करुणादिक भावना से इच्छापूर्वक थोड़े से भी दुःख सहन कर ले तो भवान्तर में सदैव के लिए सर्व दुःखों से निवृत्ति हो जायगी।"

प्रगल्भसे कर्मसु पापकेष्वरे,
यदाशया शर्म न तद्विनानितम् ।
विभावयंस्तच्च विनश्वरं द्रुतं,
बिभेषि किं दुर्गतिदुःखतो न हि ? ॥१९॥

अर्थ – "जिन सुखों की इच्छा से तू पापकर्मों में मूर्खता से तल्लीन हो जाता है वे सुख तो जीवितव्य के बिना किसी काम के नहीं है, और जीवन तो शीघ्र ही नाश होनेवाला है ऐसे जब तू स्वयं जानता है तो फिर हे भाई ! तू दुर्गति के दुःखों से क्यों नहीं डरता है ?"

कर्माणि रे जीव ! करोषि तानि,
यैस्ते भविन्र्यो विपदो ह्यनन्ताः ।
ताभ्यो भियातद्दघसेऽधुना किं ?
संभाविताभ्योऽपि भृशाकुलत्वम् ॥२०॥

अर्थ – "हे जीव ! तू ऐसे कर्म करता है, जिसके कारण तुझे भविष्य में अनन्त आपत्तियाँ उठानी पड़ती है, तो फिर संभवित ऐसी विपत्तियों के भय से इस समय अत्यन्त व्याकुल क्यों होता है ?"

ये पालिता वृद्धिमिताः सहैव,
स्निग्धा भृशं स्नेहपदं च ये ते ।
यमेन तानप्यदयं गृहीतान्,
ज्ञात्वापि किं न त्वरसे हिताय ॥२१॥

अर्थ – "जिनका तेरे साथ पालन–पोषण हुआ और जो बड़े भी तेरे साथ ही साथ हुए, अपितु जो तेरे अत्यन्त स्नेही थे और जो तेरे प्रेमभाव में ये, इनको भी यमराज ने निर्दयतापूर्वक उठा लिया है ऐसा समझकर भी तू स्वहित साधननिमित्त शीघ्रता क्यों नहीं करता है ?"

यैः क्लिश्यसे त्वं धनबन्ध्वपत्यः,
यशः प्रभुत्वादिभिराशयस्थैः ।
कियानिह प्रेत्य च तैर्गुणास्ते,
साध्यः किमायुश्चविचारयैवम् ॥२२॥

अर्थ – "कल्पित धन, सगे, पुत्र, यश, प्रभुत्व आदि से (आदि के लिये) तू दुःख उठाता है, परन्तु तू विचार कर कि इस भव में और परभव में इनसे कितना लाभ उठा सकता है और तेरा आयुष्य कितना है ?"

किमु मुह्यसि गत्वरैः पृथक्, कृपणैर्बन्धुवपुः परिग्रहैः ।
विमृशस्व हितोपयोगिनोऽवसरेऽस्मिन् परलोकपान्थ रे !॥२३॥

अर्थ – "हे परलोक जानेवाले पथिक ! अलग अलग जानेवाले और तुच्छ ऐसे बंधु, शरीर और पैसों से तू क्यों मोह करता है ? इस समय तेरे सुख में वृद्धि करनेवाले वास्तविक उपाय क्या हैं, उनका ही विचार कर ।"

सुखमास्से सुखं शेषे, भुङ्क्षे पिबसि खेलसि ।
न जानेत्वग्रतः पुण्यै-र्विना ते किं भविष्यति ? ॥२४॥

अर्थ – "सुख से बैठता है, सुख से सोता है, सुख से खाता है, सुख से पीता है और सुख से खेलता है, परन्तु तू यह क्यों नहीं जानता कि पुण्य के बिना भविष्य में तेरी क्या दशा होगी ?"

शीतात्तापान्मक्षिकाकत्तृणादि-
स्पर्शाद्युत्थात्कष्टतोऽल्पाद्बिभेषि ।
तास्ताश्चैभिः कर्मभिः स्वीकरोषि,
श्वभ्रदीनां वेदनाधिग्धियं ते ॥२५॥

अर्थ – "शीत, ताप, मक्खी के डंक और कर्कश तृणादि के स्पर्श से होनेवाले बहुत थोड़े और अल्पस्थायी कष्टों से तो तू भय करता है किन्तु स्वकृत्यों से प्राप्त होनेवाली नरकानिगोद की महावेदनाओं को अंगीकार करता है । तेरी बुद्धि को धन्य है ! !"

क्वचित्कषायैः क्वचन प्रमादैः,
कदाग्रहैः क्वापि च मत्सराद्यैः ।
आत्मानमात्मन् ! कलुषीकरोषि,
बिभेषि धिङ्नो नरकादधर्मा ॥२६॥

अर्थ – "हे आत्मन् ! किसी समय कषाय के द्वारा और किसी समय प्रमाद के द्वारा, किसी समय कदाग्रह के द्वारा और किसी समय मत्सर आदि के द्वारा आत्मा को मलिन बनाता है । अरे ! तुझे धिक्कार है ! कि तू अधर्म से तथा नरक से भी नहीं डरता है ?"

अथैकादशो धर्मशुद्ध्युपदेशाधिकारः

भवेद्भवापायविनाशनाय यः,
तमज्ञधर्मं कलुषीकरोषि किम् ?
प्रमादमानोपाधिमत्सरादिभि,
र्नमिश्रितं ह्यौषधमामयापहम् ॥१॥

अर्थ – "हे मूर्ख ! जो धर्म तेरे संसार सम्बन्धी विडंबना का नाश करनेवाला है उस धर्म को प्रमाद, मान, माया, मत्सर आदि से क्यों मलिन करता है ? तू अपने मन में अच्छी तरह से समझ लेना कि मिश्रित औषधि व्याधियों का नाश नहीं कर सकती है ।"

शैथिल्यमात्सर्यकदाग्रक्रुधो –
ऽनुतापदम्भाविधिगौरवाणि च ।
प्रमादमानौ कुगुरुः कुसंगतिः,
श्लाघार्थिता वा सुकृते मला इमे ॥२॥

अर्थ – "सुकृत्यों में इतने पदार्थ मैलरूप हैं शिथिलता, मत्सर, कदाग्रह, क्रोध, अनुताप, दंभ, अविधि, गौरव, प्रमाद, मान, कुगुरु, कुसंग, आत्मप्रशंसा श्रवण की इच्छा, ये सब पुण्यराशि में मैलरूप हैं ।"

यथा तवेष्टा स्वगुणप्रशंसा,
तथापरेषामिति मत्सरोज्झी ।
तेषामिमां संतनु यल्लभेथा,
स्तांनेष्टदानाद्धि विनेष्टलाभः ॥३॥

अर्थ – ''जिस प्रकार तुझे अपने गुणों की प्रशंसा अच्छी लगती है इसीप्रकार दूसरो को भी उनके गुणों की प्रशंसा अच्छी लगती है, इसलिये मत्सर छोड़कर उनके गुणों की प्रशंसा भलीभांति करना सीख ले जिससे तुझे भी वह प्राप्त हो सके (अर्थात् तेरे गुणों की भी प्रशंसा हो सके) कारण कि प्रिय वस्तु दिये बिना प्रिय वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती है ।''

जनेषु गृह्णत्सु गुणान् प्रमोदसे,
ततो भवित्री गुणरिक्तता तव ।
गृह्णत्सु दोषान् परितप्यसे च चेद्,
भवन्तु दोषास्त्वयि सुस्थिरास्ततः ॥४॥

अर्थ – ''दूसरे पुरुषों से अपने गुणों की स्तुति किये जाने पर यदि तू प्रसन्न होगा तो तेरे गुणों की कमी हो जायगी, और यदि पुरुष तेरे दोषों का वर्णन करे उस समय खेद करेगा तो वे दोष अवश्य तेरे अन्दर निश्चल–दृढ़ हो जाएगे ।''

प्रमोदसे स्वस्य यथान्यनिर्मितैः,
स्तवैस्तथा चेत्प्रतिपन्थिनामपि ।
विगर्हणैः स्वस्य यथोपतप्यसे,
तथा रिपूणामपि चेत्ततोसि वित् ॥५॥

अर्थ – ''दूसरे पुरुषों से अपनी प्रशंसा सुनकर तू जिस प्रकार प्रसन्न होता है, उसी प्रकार शत्रु की प्रशंसा सुनकर भी तुझे प्रमोद हो, और जिस प्रकार अपनी निन्दा सुनकर

दुःखी होता है उसी प्रकार शत्रु की निन्दा सुनकर भी दुःखी हो, तब समझना कि तू सचमुच बुद्धिमान है ।"

स्तवैर्यथा स्वस्य विगर्हणैश्च,
प्रमोदतापौ भजसे तथा चेत् ।
इमौ परेषामपि तैश्चतुर्ष्व-
प्युदासतां वासि ततोऽर्थवेदी ॥६॥

अर्थ - "जिस प्रकार अपनी प्रशंसा तथा निन्दा से अनुक्रम से आनंद तथा खेद होता है उसी प्रकार दूसरों की प्रशंसा तथा निन्दा से आनंद तथा खेद होता हो अथवा इन चारों पर यदि तू उदासीनवृत्ति रखता हो तो तू सच्चा जानकार है ।"

भवेन्न कोऽपि स्तुतिमात्रतो गुणी,
ख्यात्या न बह्व्यापि हितं परत्र च ।
तदिच्छुरीर्ष्यादिभिरायतिं ततो,
मुधाभिमानग्रहिलो निहंसि किम् ? ॥७॥

अर्थ - "मनुष्यों की स्तुति करने मात्र से कोई गुणी नही हो सकता है, अपितु बहुत ख्याति से आनेवाले भव में भी (परलोक में भी) हित नहीं हो सकता है। इसलिये यदि आगामी भव को तुझे सुधारना है तो व्यर्थ अभिमान के वश होकर इर्ष्या आदि करके आगामी भव को भी क्यों बिगाड़ता है ?"

सृजन्ति के के न बहिर्मुखा जनाः,
प्रमादमात्सर्यकुबोधविप्लुताः ।
दानादिधर्माणि मलीमसान्यमू-
न्युपेक्ष्य शुद्धं सुकृतं चराण्वपि ॥८॥

अर्थ - "प्रमाद, मत्सर और मिथ्यात्व से घिरे हुए कितने ही सामान्य पुरुष दान आदि धर्म करते हैं, परन्तु ये धर्म मलिन हैं, इसलिये इनकी उपेक्षा कर शुद्ध सुकृत्य थोड़ा सा एक एक अणुमात्र ही कर ।"

आच्छादितानि सुकृतानि यथा दधन्ते,
सौभाग्यमत्र न तथा प्रकटीकृतानि ।
व्रीडानताननसरोजसरोजनेत्रा-
वक्षःस्थलानि कलितानि यथा दुकूलैः ॥९॥

अर्थ - "इस संसार में गूढ पुण्यकर्म-सुकृत्य जिस प्रकार सौभाग्य प्राप्त कराते हैं उस प्रकार प्रगट किये सुकृत्य नहीं प्राप्त करा सकते हैं । जिसप्रकार लज्जा से झुकाया है मुखकमल जिसने ऐसी कमलनयना स्त्री के स्तन-मण्डल वस्त्र से आच्छादित होने पर जितनी शोभा देते हैं उतनी शोभा खुले हुए होने पर नहीं दे सकते हैं ।"

स्तुतैः श्रुतैर्वाप्यपरैर्निरीक्षितै-
र्गुणस्तवात्मन् ! सुकृतैर्न कश्चन ।
फलन्ति नैव प्रकटीकृतैर्भुवो,
द्रुमा हि मूलैर्निपतन्त्यपि त्वधः ॥१०॥

अर्थ - "तेरे गुणों तथा सुकृत्यों की दूसरे स्तुति करे अथवा सुने अथवा तेरे उत्तम कार्यों को दूसरे देखे, इससे हे चेतन ! तुझे कुछ भी लाभ नहीं होता है। जैसे वृक्ष के मूल को खुला कर देने से वह नहीं फलता है, बल्कि उखड़कर पृथ्वीपर गिर जाता है। (इसीप्रकार उत्तम कार्य भी प्रगट कर देने से पृथ्वी पर गिर जाते हैं अर्थात् शक्तिहीन हो जाते हैं।)"

तपः क्रियावश्यकदानपूजनैः,
शिवं न गन्ता गुणमत्सरी जनः ।
अपथ्यभोजी न निरामयो भवे,
द्रसायनैरप्यतुलैर्यदातुरः ॥११॥

अर्थ - "गुणपर मत्सर करनेवाला प्राणी तपश्चर्या, आवश्यक क्रिया, दान और पूजा से मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता है, जिसप्रकार व्याधिग्रस्त पुरुष यदि अपथ्य भोजन करता हो तो वह चाहे जितनी भी रसायण क्यों न खाए परन्तु वह स्वस्थ नहीं हो सकता ।"

मन्त्रप्रभारत्नरसायनादि-
निदर्शनादल्पमपीह शुद्धम् ।
दानार्चनावश्यकपौषधादि,
महाफलं पुण्यमितोऽन्यथान्यत् ॥१२॥

अर्थ - "मंत्र, प्रभा, रत्न, रसायण आदि के दृष्टान्त से (जान पड़ता है कि) दान, पूजा, आवश्यक, पौषध आदि

(धर्मक्रिया) बहुत थोड़े होने पर भी यदि शुद्ध हो तो अत्यन्त फल देती है और बहुत होनेपर भी यदि अशुद्ध हो तो मोक्षरूप फल नहीं दे सकती है।"

दीपो यथाल्पोऽपि तमांसि हन्ति,
लवोऽपि रोगान् हरते सुधायाः ।
तृण्यां दहत्याशु कणोऽपि चाग्ने-
र्धर्मस्य लेशोऽप्यमलस्तथांहः ॥१३॥

अर्थ - "एक छोटा सा दीपक भी अंधकार का नाश कर देता है, अमृत की एक बून्द भी अनेकों रोगों को नष्ट कर देती है, और अग्नि की एक चिन्गारी भी तिनकों के बड़े भारी ढ़ेर को जला देती है, इसी प्रकार यदि धर्म का थोड़ा अंश भी निर्मल हो तो पाप को नष्ट कर देता है॥"

भावोपयोगशून्याः, कुर्वन्नावश्यकीः क्रियाः सर्वाः ।
देहक्लेशं लभसे, फलमाप्स्यसि नैव पुनरासाम् ॥१४॥

अर्थ - "भाव और उपयोग के बिना सर्व आवश्यक क्रिया करने से तुझे एकमात्र कायक्लेश (शरीर की मजदूरी) होगा, परन्तु उसका फल कदापि प्राप्त नहीं हो सकेगा।"

• • •

अथ द्वादशः देवगुरुधर्मशुद्ध्याधिकारः

तत्त्वेषु सर्वेषु गुरुः प्रधानं,
हितार्थधर्मा हि तदुक्तिसाध्याः ।
श्रयंस्तमेवेत्यपरीक्ष्य मूढ !,
धर्मप्रयासान् कुरुषे वृथैव ॥१॥

अर्थ – "सर्व तत्त्वो में गुरु मुख्य है, आत्महित के निमित्त जो धर्म करने के हैं वे उनके कहने से साध्य हैं। हे मूर्ख ! यदि उनकी परीक्षा किये बिना तू उनका आश्रय लेगा तो तेरे धर्म सम्बन्धी किये हुए सारे प्रयास (धर्म के कार्यों में की जानेवाली मेहनत) व्यर्थ होंगे ।"

भवी न धर्मैरविधिप्रयुक्तै-
र्गमी शिवं येषु गुरुर्न शुद्धः ।
रोगी हि कल्यो न रसायनैस्तै-
र्येषां प्रयोक्ता भिषगेव मूढः ॥२॥

अर्थ – "जहाँ धर्म के बतानेवाले गुरु शुद्ध नहीं होते हैं वहाँ विधिरहित धर्म करने से प्राणी मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता है, जिस रसायण में खिलानेवाला वैद्य मूर्ख हो उसे खाने से व्याधिग्रस्त प्राणी निरोगी नहीं हो सकता है ।"

समाश्रितस्तारकबुद्धितो यो,
यस्यास्त्यहो मज्जयिता स एव ।
ओघं तरीता विषमं कथं स ?
तथैव जन्तुः कुगुरोर्भवाब्धिम् ॥३॥

अर्थ – "यह पुरुष तारने में समर्थ है इस विचार से जिसका आश्रय लिया जाए, उस आश्रय लेनेवाले को जब आश्रय देनेवाला ही डुबानेवाला बन जाय तो फिर इस विषम (अथवा चपल) प्रवाह को वह प्राणी किस प्रकार तैर सकता है ? इसी प्रकार कुगुरु इस प्राणी को संसारसमुद्र से किस प्रकार तार सकता है ?"

गजाश्वपोतोक्षरथान् यथेष्ट,
पदाप्तये भद्र निजान् परान् वा ।
भजन्ति विज्ञाः सुगुणान् भजैवं,
शिवाय शुद्धान् गुरुदेवधर्मान् ॥४॥

अर्थ – "हे भद्र ! जिस प्रकार बुद्धिमान् प्राणी इच्छित स्थान पर पहुँचने के लिये अपने तथा दूसरों के हाथी, घोड़े जहाज, बैल और रथ अच्छे देखकर रख लेते हैं इसीप्रकार मोक्षप्राप्ति के निमित्त तू भी शुद्ध देव-गुरु-धर्म की उपासना कर ।"

फलाद् वृथाः स्युः कुगुरूपदेशतः,
कृता हि धर्मार्थमपीह सूद्यमाः ।
तद्दृष्टिरागं परिमुच्य भद्र ! हे,
गुरुं विशुद्धं भज चेद्धितार्थ्यसि ॥५॥

अर्थ – "संसारयात्रा में कुगुरु के उपदेश से धर्म के लिए किये हुए बड़े बड़े प्रयास भी फल के रूप में देखे जाएँ तो व्यर्थ जान पड़ते हैं, इसलिये हे भाई ! यदि तू हित

की अभिलाषा रखता हो तो दृष्टिराग को छोड़कर अत्यन्त शुद्धगुरु की उपासना कर ।''

न्यस्ता मुक्तिपथस्य वाहकतया श्रीवीर ! ये प्राक् त्वया
लुंटाकास्त्वदृतेऽभवन् बहुतरास्त्वच्छासने ते कलौ ।
बिभ्राणा यतिनाम तत्तनुधियां मुष्णान्ति पुण्यश्रियः,
पुत्कुर्मः किमराजके ह्यपि तलारक्षा न किं दस्यवः ॥६॥

अर्थ – ''हे वीर परमात्मा ! मोक्षमार्ग को बतलानेवाले के रूप में (सार्तवाह के रूप में) जिनको तूने पहले नियुक्त किये थे (स्थापित किये थे), वे कलिकाल में तेरी अनुपस्थिति में तेरे शासन में बड़े लुटेरे बन बैठे हैं । वे यति का नाम धारण करके अल्प बुद्धिवाले प्राणियों की पुण्यलक्ष्मी को चुरा लेते हैं । अब हम तुझसे क्या पुकार करे ? स्वामीरहित राज्य में क्या कोटवाल भी चोर नहीं हो सकते हैं ?''

माद्यस्यशुद्धैर्गुरुदेवधर्मै–
र्धिग् ! दृष्टिरोगेण गुणानपेक्षः ।
अमुत्र शोचिष्यसि तत्फले तु,
कुपथ्यभोजीव महामयार्त्तः ॥७॥

अर्थ – ''दृष्टि राग से गुण की अपेक्षा के बिना तू अशुद्ध देव, गुरु, धर्म के प्रति जो हर्ष प्रगट करता है उसके लिये तुझे धिक्कार है ! जिस प्रकार कुपथ्य भोजन करनेवाले अत्यन्त पीड़ा से पीड़ित होकर दुःखी होते हैं उसी प्रकार

भविष्य भव में तू उन कुदेव–धर्म–गुरु सेवन के फल को पाकर चिन्ता करेगा ।''

नाम्रं सुसिक्तोऽपि ददाति निम्बकः,
पुष्टा रसैर्वन्ध्यगवी पयो न च ।
दुःस्थो नृपो नैव सुसेवितः श्रियं,
धर्मं शिवं वा कुगुरुर्न संश्रितः ॥८॥

अर्थ – ''अच्छी तरह से सींचा हुआ नीम कभी आम पैदा नहीं कर सकता है, (ईख, घी, तेल आदि) रसों को खिलाकर पुष्ट की हुई बंध्या गाय दूध नहीं दे सकती है, (राज्यभ्रष्टता जैसे) खराब संयोगोंवाले राजा की खूब सेवा की जाए तो भी वह धन देकर प्रसन्न नहीं कर सकता है, इसी प्रकार कुगुरु का आश्रय लेने से वह शुद्ध धर्म तथा मोक्ष दिला नहीं सकता है ।''

कुलं न जातिः पितरौ गणो वा,
विद्या च बन्धुः स्वगुरुर्धनं वा ।
हिताय जन्तोर्न परं च किञ्चित्,
किन्त्वादृताः सद्गुरुदेवधर्माः ॥९॥

अर्थ – ''कुल, जाति, माँ–बाप, महाजन, विद्या, सगे–सम्बन्धी, कुलगुरु अथवा धन या दूसरी कोई भी वस्तु इस प्राणी के हित के लिये नहीं होती है, परन्तु आदर किये (आराधन किये) शुद्ध देव, गुरु और धर्म ही (हित करनेवाले हैं) ।''

माता पिता स्वः सुगुरुश्च तत्त्वा-
त्प्रबोध्य यो योजति शुद्धधर्मे ।
न तत्समोऽरिः क्षिपते भवाब्धौ,
यो धर्मविघ्नादिकृतेश्च जीवम् ॥१०॥

अर्थ - "जो धर्म का बोध कराकर शुद्ध धर्म में लगाएँ वे ही तत्त्व से सच्चे माता-पिता हैं, वे ही सचमुच हमारे हितैषी हैं और उन्हीं को सुगुरु समझें । जो इस जीव को सुकृत्य अथवा धर्म के विषय में अन्तराय करके संसारसमुद्र में फेंक देते हैं उनके समान कोई वैरी नहीं है ।"

दाक्षिण्यलज्जे गुरुदेवपूजा,
पित्रादिभक्तिः सुकृताभिलाषः ।
परोपकारव्यवहारशुद्धी,
नृणामीहामुत्र च संपदे स्युः ॥११॥

अर्थ - "दाक्षिण्य, लज्जा, गुरु और देवपूजा, मातापिता आदि बडों की भक्ति, उत्तम कार्य करने की अभिलाषा, परोपकार और व्यवहारशुद्धि मनुष्य को इस भव तथा परभव में संपत्ति प्रदान करते हैं ।"

जिनेष्वभक्तिर्यमिनामवज्ञा,
कर्मस्वनौचित्यमधर्मसङ्गः ।
पित्राद्युपेक्षा परवञ्चनं च,
सृजन्ति पुंसां विपदः समन्तात् ॥१२॥

अर्थ – "जिनेश्वर भगवान की ओर अभक्ति (आशातना), साधुओं की अवगणना, व्यापारादि में अनुचित प्रवृत्ति, अधर्मी का संग, मातापिता आदि की सेवा करने में उपेक्षा (अवहेलना) और परवंचन–दूसरों को ठगना ये सभी इस प्राणी के लिये चारों ओर से विपदाएँ उत्पन्न करते हैं।"

भक्त्यैव नार्चासि जिनं सुगुरोश्च धर्मं,
नाकर्णयस्यविरतं विरतीर्न धत्से ।
सार्थं निरर्थमपि च प्रचिनोष्यघानि,
मूल्येन केन तदमुत्र समीहसे शम् ? ॥१३॥

अर्थ – "हे भाई ! तू भक्ति से श्री जिनेश्वर भगवान की पूजा नहीं करता है, वैसी ही उत्तम गुरुमहाराज की भी सेवा नहीं करता है, सदैव धर्म का श्रवण नहीं करता है, विरति (पाप से पीछे हटना–व्रत पच्चक्खाण करना) को तो धारण भी नहीं करता है, अपितु प्रयोजन अथवा बिना प्रयोजन से ही पाप की पुष्टि करता है तो फिर तू किस कीमत पर आनेवाले भव में सुख प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है ?"

चतुष्पदैः सिंह इव स्वजात्यै–
र्मिलन्निमांस्तारयतीह कश्चित् ।
सहैव तैर्मज्जति कोऽपि दुर्गे,
शृगालवच्चेत्यमिलन् वरं सः ॥१४॥

अर्थ – ''जिसप्रकार सिंह ने अपनी जाति के प्राणियों को साथ में लेकर तराया था उसीप्रकार कोई (सुगुरु) अपने जातिभाई (भव्यपंचेन्द्रिय) को साथ में लेकर इस संसारसमुद्र से तराते हैं, और जिसप्रकार शियाल अपनी जाति के भाइयों के साथ डूब मरा उसीप्रकार कोई (कुगुरु) अपने साथ सबको नरकादि अनंत सागर में डूबा देते हैं। अतएव ऐसे शियाल जैसे पुरुष तो न मिलें वही अच्छा है।''

पूर्णे तटाके तृषितः सदैव,
भृतेऽपि गेहे क्षुधितः स मूढः।
कल्पद्रुमे सत्यपि ही दरिद्रो,
गुर्वादियोगेऽपि हि यः प्रमादी ॥१५॥

अर्थ – ''गुरुमहाराज आदि का संयोग होने पर भी जो प्राणी प्रमाद करता है वह पानी से भरे हुए तलाब के होने पर भी प्यासा है, (धन-धान्य से) घर भरपूर है फिर भी वह मूर्ख तो भूखा है और उसके पास कल्पवृक्ष है फिर भी वह तो दरिद्र ही है।''

न धर्मचिन्ता गुरुदेवभक्ति-
र्येषां न वैराग्यलवोऽपि चित्ते।
तेषां प्रसूक्लेशफलः पशूना-
मिवोद्भवः स्यादुदरम्भरीणाम् ॥१६॥

अर्थ – "जिस प्राणी को धर्म सम्बन्धी चिन्ता, गुरु और देव के प्रति भक्ति और वैराग्य का अंशमात्र भी चित्त में न हो ऐसे पेटभाओं का जन्म पशुतुल्य है, उत्पन्न करनेवाली माता को भी क्लेश देनेवाला ही है ।"

न देवकार्ये न च सङ्घकार्ये,
येषां धनं नश्वरमाशु तेषाम् ।
तदर्जनाद्यैर्वृजिनैर्भवान्धौ,
पतिष्यतां किं त्ववलम्बनं स्यात् ? ॥१७॥

अर्थ – "धन–पैसे एकदम नाशवंत है । जिनके पास पैसे हों, वे यदि उनको देवकार्य में अथवा संघकार्य में खर्च न करें, तो उनको सदैव द्रव्य प्राप्त करने के निमित्त किये हुए पापों से संसारसमुद्र में पड़ने पर किनका आधार होगा ?"

• • •

अथ त्रयोदशो यतिशिक्षोपदेशाधिकारः

ते तीर्णा भववारिधिं मुनिवरास्तेभ्यो नमस्कुर्महे,
येषां नो विषयेषु गृध्यति मनो नो वा कषायैः प्लुतम् ।
रागद्वेषविमुक् प्रशान्तकलुषं साम्याप्तशर्माद्वयं,
नित्यं खेलति चाप्तसंयमगुणाक्रीडे भजद्भावनाः ॥१॥

अर्थ – "जिन महात्माओं का मन इन्द्रियों के विषयो में आसक्त नहीं होता, कषायों से व्याप्त नहीं होता, जो (मन) राग–द्वेष से मुक्त रहता है, जिन्होंने पापकार्यों को शान्त कर दिया है, जिनको समतारूपी अद्वैत सुख प्राप्त हुआ है, और जो भावना करते हुए संयमगुणरूपी उद्यान में सदैव क्रीड़ा करते है – ऐसा जिनका मन हो गया है वे महामुनीश्वर संसार से तैर गये हैं उनको हम नमस्कार करते हैं ।"

स्वाध्यायमाधित्ससि नो प्रमादैः–,
शुद्धा न गुप्तीः समितीश्च धत्से ।
तपो द्विधा नार्जसि देहमोहा,
दल्पेऽहि हेतौ दधसे कषायान् ॥२॥
परिषहान्नो सहसे न चोप,
सर्गान्न शीलाङ्गधरोऽपि चासि ।
तन्मोक्ष्यमाणोऽपि भवाब्धिपारं,
मुने ! कथं यास्यसि वेषमात्रात् ? ॥३॥

अर्थ – "हे मुनि ! तू विकथादि प्रमाद करके स्वाध्याय (सज्झाय ध्यान) करने की इच्छा नहीं करता है, विषयादि

प्रमाद से समिति तथा गुप्ति धारण नहीं करता है, शरीर के प्रति ममत्व के कारण दोनों प्रकार के तप नहीं करता है, नहिवत् कारण से कषाय करता है, परिषह तथा उपसर्गों को सहन नहीं करता है, (अठारह हजार) शीलांग धारण नहीं करता है फिर भी तू मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा रखता है, परन्तु हे मुनि ! केवल वेशमात्र से संसारसमुद्र का पार कैसे पा सकेगा ?"

आजीविकार्थमिह यद्यतिवेषमेष,
धत्से चरित्रममलं न तु कष्टभीरुः ।
तद्वेत्सि किं न न बिभेति जगज्जिघृक्षु-
मृत्युः कुतोऽपि नरकश्च न वेषमात्रात् ॥४॥

अर्थ - "तू आजीविका के लिये ही इस संसार में यति का वेश धारण करता है, परन्तु कष्ट से डरकर शुद्ध चारित्र नहीं रखता है, तुझे इस बात का ध्यान नहीं है कि समस्त जगत् को ग्रहण करने की अभिलाषा रखनेवाली मृत्यु और नरक कभी किसी प्राणी के वेशमात्र से नहीं डरते हैं।"

वेषेण माद्यसि यतेश्चरणं विनात्मन् !
पूजां च वाञ्छसि जनाद्बहुधोपधिं च ।
मुग्धप्रतारणभवे नरकेऽसि गन्ता,
न्यायं बिभर्षि तदजागलकर्तरीयम् ॥५॥

अर्थ - "हे आत्मन् ! तू व्यवहार (चारित्र) के बिना ही एक मात्र यति के वेश से ही गर्वित (अभिमानी) रहता है

और फिर लोगों द्वारा पूजाना चाहता है इससे यह प्रतीत होता है कि तू भोले विश्वास रखनेवाले प्राणियों को धोखा देने के कारण अवश्य नरक में जाएगा । सचमुच तू 'अजागल-कर्त्तरीन्याय' धारण करता है ।"

जानेऽस्ति संयमतपोभिरमीभिरात्म-
न्नस्य प्रतिग्रहभरस्य न निष्क्रयोऽपि ।
किं दुर्गतौ निपततः शरणं तवास्ते,
सौख्यञ्च दास्यति परत्र किमित्यवेहि ॥६॥

अर्थ - "मेरे विचारानुसार हे आत्मन् ! इस प्रकार के संयम तथा तप से तो (गृहस्थ के पास से लिये हुए पात्र, भोजन आदि) वस्तुओं का पूरा किराया भी नहीं मिल सकता है, तो दुर्गति में गिरते समय तुझे किसका शरण होगा ? और परलोक में कौन सुख देगा ? इसका तू विचार कर ।"

किं लोकसत्कृतिनमस्कारणार्चनाद्यै,
रे मुग्ध ! तुष्यसि विनापि विशुद्धयोगान् ।
कृन्तन् भवान्धुपतने तव यत्प्रमादो,
बोधिद्रुमाश्रयमिमानि करोति पर्शून् ॥७॥

अर्थ - "तेरे त्रिकरण योग विशुद्ध नहीं हैं फिर भी मनुष्य तेरा आदर-सत्कार करते हैं । तुझे नमस्कार करते हैं अथवा तेरी पूजा सेवा करते हैं, तब हे मूढ़ ! तू क्यों संतोष मानता है ? संसारसमुद्र में गिरते हुए तुझे एकमात्र बोधिवृक्ष

का आधार है उस वृक्ष को काटने के लिये नमस्कारादि से होनेवाला सन्तोषादि प्रमाद इसके (लोकसत्कार आदि) लिये कुल्हाडारुप होता है।"

गुणांस्तवाश्रित्य नमन्त्यमी जना,
ददत्युपध्यालयभैक्ष्यशिष्यकान् ।
विना गुणान् वेषमृषोर्बिभर्षि चेत्,
ततष्ठकानां तव भाविनी गतिः ॥८॥

अर्थ - "ये पुरुष तेरे गुणों को देखकर तेरे सामने झुकते हैं और उपधि, उपाश्रय, आहार और शिष्य तुझे देते हैं। अतएव यदि तू बिना गुण के ही ऋषि (यति) का वेश धारण करता हो तो तेरी दशा ठग के सदृश होगी।"

नाजीविकाप्रणयिनीतनयादिचिन्ता,
नो राजभीश्च भगवत्समयं च वेत्सि ।
शुद्धे तथापि चरणे यतसे न भिक्षो,
तत्ते परिग्रहभरो नरकार्थमेव ॥९॥

अर्थ - "तुझे आजीविका, स्त्री, पुत्र आदि की चिन्ता नहीं है, राज्य का भय नहीं है और भगवान के सिद्धान्तों को तू जानता है अथवा सिद्धान्त की पुस्तकें तेरे पास हैं, फिर भी हे यति ! यदि तू शुद्ध चारित्र के लिये प्रयत्न नहीं करेगा तो फिर तेरी सभी वस्तुओं का भार (परिग्रह) नरक के लिये ही है।"

शास्त्रज्ञोऽपि धृतव्रतोऽपि गृहिणी-
पुत्रादिबन्धोज्झितो-
ऽप्यङ्गी यद्यतते प्रमादवशगो
न प्रेत्यसौख्यश्रिये ।
तन्मोहद्विषतस्त्रिलोकजयिनः
काचित्परा दुष्टता,
बद्धायुष्कतया स वा नरपशु-
र्नूनं गमी दुर्गतौ ॥१०॥

अर्थ - "शास्त्र को जाननेवाला हो, व्रत को ग्रहण किये हुए हो, तथा स्त्री, पुत्र आदि के बन्धनों से मुक्त हो, फिर भी यदि कोई प्राणी प्रमाद के वशीभूत होकर पारलौकिक सुखरूप लक्ष्मी के लिये कुछ भी यत्न नहीं करता है तो जानना चाहिये कि या तो इसमें तीनों लोकों को जीतनेवाले मोह नामक शत्रु की कोई अकथनीय दुष्टता कारणभूत होनी चाहिये अथवा वह नरपशु आगामी भव के आयुष्य का बन्ध हो जाने के कारण अवश्य दुर्गति में जानेवाला है ।"

उच्चारयस्यनुदिनं न करोमि सर्व,
सावद्यमित्यसकृदेतदथो करोषि ।
नित्यं मृषोक्तिजिनवञ्चनभारितात्तत्,
सावद्यतो नरकमेव विभावये ते ॥११॥

अर्थ - "तू सदैव दिन और रात्रि में नौ बार 'करोमि

भंते' का पाठ करते समय कहता है कि मैं सर्वथा सावद्य काम न करूँ किन्तु फिर बारम्बार वही कार्य किया करता है। ये सावद्य कर्म करके तू असत्य भाषण करनेवाला होने से प्रभु को भी धोखा देता है और मेरी तो यह धारणा है कि उस पाप के भार से भारी होने पर तेरा तो नरकगामी होना जरूरी है।''

वेषोपदेशाद्युपधिप्रतारिता,
ददत्यभीष्टानृजवोऽधुना जनाः ।
भुङ्क्षे च शेषे च सुखं विचेष्टसे,
भवान्तरे ज्ञास्यसि तत्फलं पुनः ? ॥१२॥

अर्थ – ''वेष, उपदेश और कपट से भ्रमित हुए भद्रक पुरुष अभी तक तुझे वाञ्छित वस्तुएँ देते हैं, तू सुख से खाता है, सोता है और भ्रमण किया करता है, परन्तु आगामी भव में इनके द्वारा होनेवाले फल की अच्छी तरह से तुझे समझ मालूम पड़ेगी।''

आजीविकादिविविधार्त्तिभृशानिशार्त्ताः,
कृच्छ्रेण केऽपि महतैव सृजन्ति धर्मान् ।
तेभ्योऽपि निर्दय ! जिघृक्षसि सर्वमिष्टं,
नो संयमे च यतसे भविता कथं ही ? ॥१३॥

अर्थ – ''आजीविका चलाने आदि अनेक पीड़ाओं से रातदिन बहुत परेशान होते हुए अनेकों गृहस्थी महामुश्किल से धर्मकार्य कर सकते हैं उनके पास से भी हे दयाहीन

यति ! तू तेरी सर्व इष्ट वस्तु प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है और संयम के लिये प्रयत्न नहीं करता है, तो फिर तेरी क्या दशा होगी ? ।''

आराधितो वा गुणवान् स्वयं तरन्,
भवाब्धिमस्मानपि तारयिष्यति ।
श्रयन्ति ये त्वामिति भूरिभक्तिभिः,
फलं तवैषां च किमस्ति निर्गुण ! ॥१४॥

अर्थ – ''इस गुणवान पुरुष की आराधना करने से जैसे यह स्वयं भवसमुद्र से तैरता है वैसे ही हमें भी तैरा देगा ऐसा समझकर कितने ही प्राणी भक्तिभाव से तेरा आश्रय लेते हैं । इससे हे निर्गुण ! तुझे और उन्हें क्या लाभ है ?''

स्वयं प्रमादैर्निपतन् भवाम्बुधौ,
कथं स्वभक्तानपि तारयिष्यसि ।
प्रतारयन् स्वार्थमृजून् शिवार्थिनः,
स्वतोऽन्यतश्चैव विलुप्यसेंऽहसा ॥१५॥

अर्थ – ''जब तू स्वयं प्रमाद के कारण संसारसमुद्र में डूबता जाता है तो फिर तू अपने भक्तों को किस प्रकार तैरा सकता है ? बेचारे मोक्षार्थी सरल जीवों को तू अपने स्वार्थवश ठगकर अपने और दूसरों के द्वारा पापों में तु स्वयं लिप्त होता है ।''

गृह्णासि शय्याहृतिपुस्तकोपधीन्,
सदा परेभ्यस्तपसस्त्वियं स्थितिः ।
तत्ते प्रमादाद्भरितात्प्रतिग्रहै-
ऋर्णमग्नस्य परत्र का गतिः ? ॥१६॥

अर्थ – "तू दूसरों से निवासस्थान (उपाश्रय), आहार, पुस्तक और उपधि ग्रहण करता है । इसके अधिकारी तो तपस्वी लोग (शुद्ध चारित्रवाले) हैं (अर्थात् इनके ग्रहण करने के पात्र तो तपस्वी लोग हैं) तू उन वस्तुओं को ग्रहणकर फिर से प्रमाद के वशीभूत हो जाता है, और बहुत कर्जदार हो जाता है तो फिर परभव में तेरी क्या गति होगी ?"

न कापि सिद्धिर्न च तेऽतिशायि,
मुने ! कियायोगतपःश्रुतादि ।
तथाप्यहङ्कारकदर्थितस्त्वं,
ख्यातीच्छया ताम्यसि धिङ्मुधा किम् ॥१७॥

अर्थ – "हे मुनि ! तेरे पास न तो कोई सिद्धि है, न ऊँची प्रकार की कोई क्रिया, योग, तपस्या या ज्ञान, फिर भी अहंकार से कदर्थना प्राप्तकर प्रसिद्धि प्राप्त करने की अभिलाषा से हे अधम ! तू क्यों व्यर्थ परिताप करता है ?"

हीनोऽप्यरे भाग्यगुणैर्मुधात्मन् !,
वाञ्छंस्तवार्चाद्यनवाप्नुवश्च ।
ईर्ष्यन् परेभ्यो लभसेऽतिताप-
मिहापि याता कुगतिं परत्र ॥१८॥

अर्थ – ''हे आत्मा ! तू निष्पुण्यक है फिर भी पूजा–स्तुति की अभिलाषा रखता है और उसके प्राप्त न होने पर दूसरों से द्वेष करता है (जिससे) यहाँ भी अत्यन्त दुखों को सहन करता है और परभव में कुगति को प्राप्त करता है ।''

गुणैर्विहीनोऽपि जनानतिस्तुति–
प्रतिग्रहान् यन्मुदितः प्रतीच्छसि ।
लुलायगोऽश्वोट्रखरादिजन्मभि–
र्विना ततस्ते भविता न निष्क्रियः ॥१९॥

अर्थ – ''तू गुणहीन है फिर भी लोगों से वन्दन, स्तुति, आहारपानी के ग्रहण आदि को खुशी से प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है, परन्तु याद रखना कि पाड़े गाय, घोड़े, ऊँट या गधे आदि का जन्म लिये बिना तेरा उस कर्ज से छुटकारा पाना असम्भव है ।''

गुणेषु नोद्यच्छसि चेन्मुने ! ततः,
प्रगीयसे यैरपि वन्द्यसेऽर्च्यसे ।
जुगुप्सितां प्रेत्य गतिं गतोऽपि तै,
र्हसिष्यसे चाभिभविष्यसेऽपि वा ॥२०॥

अर्थ – ''हे मुनि ! यदि तू गुण प्राप्त करने का यत्न न करेगा तो वे ही पुरुष जो तेरे गुणों की स्तुति करते हैं, तुझे वन्दना करते हैं और पूजा करते हैं जब तू कुगति को प्राप्त होगा तो तेरी हँसी उड़ाएँगे–तेरा पराभव करेंगे ।''

दानमाननुतिवन्दनापरै–
र्मोदसे निकृतिरञ्जितैर्जनैः ।
न त्ववैषि सुकृतस्य च्चेल्लवः,
कोऽपि सोऽपि तव लुंठ्यते हि तैः ॥२१॥

अर्थ – "तेरी कपटजाल से प्रसन्न होकर मनुष्य तुझे दान देते हैं, नमस्कार करते हैं या वन्दना करते हैं उस समय तू प्रसन्न होता है, परन्तु तू यह नहीं जानता है कि तेरे पास जो एक लेशमात्र सुकृत्य है उसे भी वे लूटकर ले जाते हैं ।"

भवेद् गुणी मुग्धकृतैर्न हि स्तवै–
र्न ख्यातिदानार्चनवन्दनादिभिः ।
विना गुणान्नो भवदुःखसंक्षय–
स्ततो गुणानर्जय किं स्तवादिभिः ? ॥२२॥

अर्थ – "भोले जीवों से स्तुति किये जाने पर कोई पुरुष गुणवान नहीं हो सकता है, इसीप्रकार प्रतिष्ठा पाने से तथा दान, अर्चन और पूजन किये जाने से कोई पुरुष गुणवान नहीं हो सकता और बिना गुण के संसार के दुखों का अन्त नहीं हो सकता है, अतएव हे भाई ! गुण उपार्जन कर । इस स्तुति आदि से क्या लाभ है ?"

अध्येषि शास्त्र सदसद्विचित्रा–
लापादिभिस्ताम्यसि वा समायैः ।
येषां जानानामिह रञ्जनाय,
भवान्तरे ते क्व मुनि ! क्व च त्वम् ॥२३॥

अर्थ – "जिन मनुष्यों का मनोरंजन करने के लिये तू अच्छे और बुरे अनेक प्रकार के शास्त्रों का स्वाध्याय करता है और मायापूर्वक विचित्र प्रकार के भाषणों से (कंठशोषादि) खेद सहन करता है वे भवान्तर में वे कहाँ जाएँगे और तू कहाँ जाएगा ?"

परिग्रहं चेद्व्यजहा गृहादे-
स्तत्किं नु धर्मोपकृतिच्छलात्तम् ।
करोषि शय्योपधिपुस्तकादे-
र्गरोऽपि नामान्तरतोऽपि हन्ता ॥२४॥

अर्थ – "घर आदि परिग्रह को तूने छोड़ दिये हैं तो फिर धर्म के उपकरण के बहाने से शय्या, उपधि, पुस्तक आदि का परिग्रह क्यों करता है ? विष का नामान्तर करने पर भी वह मारनेवाला ही होता है ।"

परिग्रहात्स्वीकृतधर्मसाधना-
भिधानसात्रात्किमु मूढ ! तुष्यसि ।
न वेत्सि हेम्नाप्यतिभारिता तरी,
निमज्जयत्यङ्गिनमम्बुधौ द्रुतम् ॥२५॥

अर्थ – "हे मूढ़ ! धर्म के साधन को उपकरणादि का नाम देकर स्वीकार किये हुए परिग्रहों से तू क्यों कर प्रसन्न होता है ? क्या तू नहीं जानता है कि यदि जहाज में सोने का भार भी भरा हो तो भी वह तो उसमें बैठनेवाले प्राणियों को समुद्र में डूबोता ही है ?"

येंऽहः कषायकलिकर्मनिबन्धभाजनं,
स्युः पुस्तकादिमिरपीहितधर्मसाधनैः ।
तेषां रसायनवरैरपि सर्पदामयै-
रार्त्तात्मनां गदहृतेः सुखकृत्तु किं भवेत् ? ॥२६॥

अर्थ – "जिसके द्वारा धर्मसाधन की अभिलाषा हो ऐसी पुस्तकादि के द्वारा भी जो प्राणी पाप, कषाय, कंकास और कर्मबन्ध करते हैं तो फिर उनके सुख का क्या प्राप्ति साधन हो सकता है ? जिस प्राणी की व्याधि उत्तम प्रकार के रसायन प्रयोग से भी अधिक बढ़ने लगे तो फिर वह व्याधि किस साधन से मिट सकती है ?"

रक्षार्थं खलु संयमस्य गदिता
येऽर्था यतिनां जिनै-
र्वासः पुस्तकपात्रकप्रभृतयो
धर्मोपकृत्यात्मकाः ।
मूर्धन्मोहवशात्त एव कुधियां
संसारपाताय धिक्,
स्वं स्वस्यैव वधाय शस्त्रमधियां
यद्दुष्प्रयुक्तं भवेत् ॥२७॥

अर्थ – "वस्त्र, पुस्तक और पात्र आदि धर्मोपकरण के पदार्थ श्रीतीर्थंकर भगवान ने संयम की रक्षा के निमित्त यतियों को बताये हैं परन्तु जो मन्दबुद्धि मूढ़ जीव अधिक मोह के वशीभूत होकर उनको संसारवृद्धि के कारण बनाते

हैं उनको बारम्बार धिक्कार है। मूर्ख पुरुष द्वारा अकुशलता से काम में लाया हुआ शस्त्र (हथियार) उनके स्वयं के ही नाश का कारण होता है।''

संयमोपकरणच्छलात्परान्-
भारयन् यदसि पुस्तकादिभिः ।
गोखरोष्ट्रमहिषादिरूपभृत्-
तच्चिरं त्वमपि भारयिष्यसे ॥२८॥

अर्थ - ''संयम उपकरण के बहाने से दूसरों पर तू पुस्तक आदि वस्तुओं का भार डालता है, परन्तु वे गाय, गधा, ऊँट, पाड़ा आदि के रूप में तेरे पास से अनन्तकाल-पर्यन्त भार वहन कराएँगे।''

वस्त्रपात्रतनुपुस्तकादिनः,
शोभया न खलु संयमस्य सा ।
आदिमा च ददते भवं परा,
मुक्तामाश्रय तदिच्छयैकिकाम् ॥२९॥

अर्थ - ''वस्त्र, पात्र, शरीर या पुस्तक आदि की शोभा करने से संयम की शोभा नहीं हो सकती है। प्रथम प्रकार की शोभा भववृद्धि करती है और दूसरे प्रकार की शोभा मोक्ष प्राप्ति कराती है। अतएव इन दोनों में से किसी एक की जिसकी तुझे अभिलाषा हो उसकी शोभा कर। अथवा उसके लिये तू वस्त्र, पुस्तक आदि की शोभा का त्याग कर। हे यति ! मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा रखनेवाला तू संयम की शोभा के लिये

यत्न क्यों नहीं करता है ?"

शीतातपाद्यान्न मनागपीह,
परीषहांश्चेत्क्षमसे विसोढुम् ।
कथं ततो नारकगर्भवास-
दुःखानि सोढ़ासि भवान्तरे त्वम् ? ॥३०॥

अर्थ – "जबकि तू इस भव में थोड़ा सा शीत, ताप आदि परीषहों को भी सहन करने में अशक्त है तो फिर भवान्तर में नारकी तथा गर्भवास के दुखों को क्योंकर सहन कर सकेगा ?"

मुने ! न किं न नश्वरमस्वदेह-
मृत्पिण्डमेनं सुतपोव्रताद्यैः ।
निपीड्य भीतिर्भवदुःखराशे-
र्हित्वात्मसाच्छैवसुखं करोषि ॥३१॥

अर्थ – "हे मुनि ! यह शरीररूप मृतपिण्ड नाशवन्त है और अपना नहीं है, तो फिर उसको उत्तम प्रकार के तप और व्रत आदि से कष्ट पहुँचाकर अनन्त भवो में प्राप्त होनेवाले दुःखों को दूरकर, मोक्षसुख को आत्मसन्मुख क्यों नहीं करता है ?"

यदत्र कष्टं चरणस्य पालने,
परत्र तिर्यङ्नरकेषु यत्पुनः ।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता स्थिता,
विशेषदृष्ट्यान्यतरं जहीहि तत् ॥३२॥

अर्थ – ''चारित्र के पालन करने में इस भव में जो कष्ट उठाने पड़ते हैं और परभव में नारकी और तिर्यंच गति में जो कष्ट उठाने पड़ते हैं इन दोनों में पारस्परिक रूप से प्रतिपक्षता है, अतएव सोच-विचारकर दोनों में से एक को छोड़ दे।''

शमत्र यद्बिन्दुरिव प्रमादजं
परत्र यच्चाब्धिरिव द्युमुक्तिजम् ।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता स्थिता,
विशेषदृष्ट्यान्यतरद् गृहाण तत् ॥३३॥

अर्थ – ''इस भव में प्रमाद से जो सुख होता है वह एक बिन्दु तुल्य है, और परभव में देवलोक और मोक्ष सम्बन्धी जो सुख होता है वह समुद्र के सदृश है, इन दोनों सुखों में परस्पर प्रतिपक्षता है, अतएव विवेक का प्रयोगकर दोनों में से एक को तू ग्रहण कर ले।''

नियन्त्रणा या चरणेऽत्र तिर्यक्
स्त्रीगर्भकुम्भीनरकेषु या च ।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षभावाद्-
विशेषदृष्ट्यान्यतरां गृहाण ॥३४॥

अर्थ – ''चारित्र पालने में तुझे इस भव में नियंत्रणा उठानी पड़ती है और परभव में भी तिर्यंच गति में, स्त्री के गर्भ में अथवा नारकी के कुंभीपाक में नियंत्रणा (कष्ट, पराधीनता) सहन करनी पड़ती है। इन दोनों प्रकार की नियन्त्रणा में परस्पर विरोध है, अतएव विवेकपूर्वक दोनों में

से किसी एक को ग्रहण कर ।"

सह तपोयमसंयमयन्त्रणां,
स्ववशतासहने हि गुणो महान् ।
परवशस्त्वति भूरि सहिष्यसे,
न च गुणं बहुमाप्स्यसि कञ्चन ॥३५॥

अर्थ - "तू तप, यम और संयम की नियंत्रणा को सहन कर । स्ववश रहकर (परीषहादि का दुःख) सहन करना अधिक उत्तम है, परवश होने पर तो अनेकों कठिन दुःख उठाने पड़ेंगे और वे सब निष्फल होंगे ।"

अणीयसा साम्यनियन्त्रणाभुवा,
मुनेऽत्र कष्टेन चरित्रजेन च ।
यदि क्षयो दुर्गतिगर्भवासगाऽ-
सुखा वलेस्तत्किमवापि नार्थितम् ? ॥३६॥

अर्थ - "समता से और नियंत्रणा (परीषह सहन) से होनेवाले थोड़े से कष्ट द्वारा अथवा चारित्रपालन के थोड़े से कष्ट द्वारा यदि दुर्गति में जाने की और गर्भावास में रहने के दुःख की परंपरा का नाश हो जाता हो तो फिर तूने कौन सी इच्छित वस्तु को नहीं पाया ?"

त्यज स्पृहां स्वःशिवशर्मलाभे,
स्वीकृत्य तिर्यङ्नरकादिदुःखम् ।
सुखाणुभिश्चेद्विषयादिजातैः,
संतोष्यसे संयमकष्टभीरुः ॥३७॥

अर्थ – ''संयमपालन के कष्टों से डरकर विषयकषाय से होनेवाले अल्प सुख में जो तू सन्तोष मानता हो तो फिर तिर्यंच नारकी के मिलनेवाले दुःखों को तू स्वीकार कर ले और स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा छोड़ दे ।''

समग्रचिन्तार्त्तिहृतेरिहापि,
यस्मिन्सुखं स्यात्परमं रतानाम् ।
परत्र चेन्द्रादिमहोदयश्रीः,
प्रमाद्यसीहापि कथं चरित्रे ? ॥३८॥

अर्थ – ''चारित्र से इस भव में सब प्रकार की चिन्ता और मन की आधि का नाश होता है इसलिये जिसकी उसमें लय लगी हुई हो उसको अत्यन्त आनंद की प्राप्ति होती है और परभव में इन्द्रासन तथा मोक्ष की महालक्ष्मी प्राप्त होती है। ऐसा होने पर भी समझ में नहीं आता कि यह जीव क्यों प्रमाद करता है ?''

महातपोध्यानपरिषहादि,
न सत्त्वसाध्यं यदि धर्तुमीशः ।
तद्भावनाः किं समितीश्च गुप्ती–
र्धत्से शिवार्थिन्न मनःप्रसाध्याः ॥३९॥

अर्थ – ''उग्र तपस्या, ध्यान, परीषह आदि सत्त्व से साधे जा सकते हैं, इनको साधने में यदि तू असमर्थ हो तो भी भावना, समिति और गुप्ति जो मन से ही साधे जा सकते हैं उनको हे मोक्षार्थी ! तू क्यों नहीं धारण करता ?''

अनित्यताद्या भज भावनाः सदा,
यतस्व दुःसाध्यगुणेऽपि संयमे ।
जिघत्सया ते त्वरते ह्ययं यमः,
श्रयन् प्रमादान्न भवाद्बिभेषि किम् ? ॥४०॥

अर्थ – "अनित्यता आदि सभी भावनाओं को निरन्तर रख, जो संयम के (मूल तथा उत्तर) गुण कठिनता से साधे जा सकते हैं, उनके लिये यत्न कर, यह यम (काल) तुझे हड़प कर जाने को शीघ्रता करता है, तो फिर प्रमाद का आश्रय लेते हुए तू क्यों संसारभ्रमण से नहीं डरता है ?"

हतं मनस्ते कुविकल्पजाले–
र्वचोप्यवद्यैश्च वपुः प्रमादैः ।
लब्धीश्च सिद्धिश्च तथापि वाञ्छन्,
मनोरथैरेव हा हा हतोऽसि ॥४१॥

अर्थ – "तेरा मन खराब संकल्पविकल्प से खिन्न है, तेरे वचन असत्य और कठोर भाषा से सने हुए हैं, और तेरा शरीर प्रमाद से भ्रष्ट हुआ है, फिर भी तू लब्धि और सिद्धि की वाञ्छा करता है । सचमुच ! तू (मिथ्या) मनोरथ से खिन्न है ।"

मनोवशस्ते सुखदुःखसङ्गमो,
मनोमिलेद्यैस्तु तदात्मकं भवेत् ।
प्रमादचौरैरिति वार्यतां मिलच्–
छीलाङ्गमित्रैरनुषञ्जयानिशम् ॥४२॥

अर्थ – "सुख–दुःख की प्राप्ति होना तेरे मन के वश में है। मन जिसके साथ मिलता है उसके साथ एकाकार हो जाता है, अतएव प्रमादरूप चोर के मिलने से अपने मन को रोककर रख, और शीलांगरूप मित्रों के साथ उसे निरन्तर जोड़।"

ध्रुवः प्रमादेर्भववारिधौ मुने !,
तय प्रापतः परमत्सरः पुनः ।
गले निबद्धोरुशिलोपमोऽस्ति चेत्,
कथं तदोन्मज्जनमप्यवाप्स्यसि ॥४३॥

अर्थ – "हे मुनि ! तू जो प्रमाद करता है उसके कारण संसारसमुद्र में गिरना तो तेरा निश्चय ही है, परन्तु फिर भी दूसरों पर मत्सर करता है, यह गर्दन में बँधी हुई एक बड़ी शिला के सदृश है, तो फिर तू इसमें से किस प्रकार ऊपर उठ सकता है ?"

महर्षयः केऽपि सहन्त्युदीर्या–
प्युग्रातपादीन्यपि निर्जरार्थम् ।
कष्टं प्रसङ्गागतमप्यणीयोऽ–
पीच्छन् शिवं किं सहसे न भिक्षो ! ॥४४॥

अर्थ – "बड़े बड़े ऋषि मुनि कर्म की निर्जरानिमित्त उदीरणा करके भी आतापनादि को सहन करते हैं और तू जो मोक्ष का अभिलाषी है तो फिर प्राप्त हुए अत्यन्त अल्प कष्ट को भी हे साधु ! तू क्यों नहीं सहन करता है ?"

यो दानमानस्तुतिवन्दनाभि,
र्न मोदतेऽन्यैर्न तु दुर्मनायते ।
अलाभलाभादि परीषहान् सहन्,
यतिः स तत्त्वादपरो विडम्बकः ॥४५॥

अर्थ – "जो प्राणी दान, मान (सत्कार, स्तुति और नमस्कार से प्रसन्न न होता हो और इनके विपरीत (असत्कार, निंदा आदि) से अप्रसन्न न होता हो, तथा अलाभ आदि परीषहों को सहन करता है वह परमार्थ से यति है, शेष अन्य तो वेषविडंबक हैं ।"

दधद् गृहस्थेषु ममत्वबुद्धिं,
तदीयतप्त्या परितप्यमानः ।
अनिवृत्तान्तःकरणः सदा स्वै-
स्तेषां च पापैर्भ्रमिता भवेऽसि ॥४६॥

अर्थ – "गृहस्थ के ऊपर ममत्वबुद्धि रखने से और उनके सुख दुःख की चिन्ता से दुःखी होने से तेरा अन्तःकरण सर्वदा व्याकुल रहेगा, और तेरे तथा उनके पाप से तू संसार में भटकता रहेगा ।"

त्यक्त्वा गृहं स्वं परगेहचिन्ता-
तप्तस्य को नाम गुणस्तवर्षे ! ।
आजीविकास्ते यतिवेषतोऽत्र,
सुदुर्गतिः प्रेत्य तु दुर्निवारा ॥४७॥

अर्थ – "स्वगृह का त्यागकर अन्य के गृह की चिन्ता के परिताप को सहन करनेवाले हे ऋषि ! तुझे क्या लाभ होनेवाला है ? (बहुत करे तो) यति के वेश से इस भव में तेरी आजीविका (सुख से) चलेगी परन्तु परभव में अत्यन्त कष्टदायक दुर्गति को न रोक सकेगा ।"

कुर्वे न सावद्यमिति प्रतिज्ञां,
वदन्नकुर्वन्नपि देहमात्रात् ।
शय्यादिकृत्येषु नुदन् गृहस्थान्,
हृदा गिरा वासि कथं मुमुक्षुः ? ॥४८॥

अर्थ – "मैं सावद्य न करूँगा इस प्रतिज्ञा का तू सदैव उच्चारण करता है, फिर भी शरीरमात्र से भी सावद्य नहीं करता है और शय्या आदि कार्यों में तो मन और वचन से गृहस्थों को प्रेरणा किया करता है – फिर तू मुमुक्षु कैसे कहला सकता है ?"

कथं महत्त्वाय ममत्वतो वा,
सावद्यामच्छस्यपि सङ्घलोके ।
न हेममय्यप्युदरे हि शस्त्री,
क्षिप्ता क्षणोति क्षणतोऽप्यसून् किम् ? ॥४९॥

अर्थ – "महत्व के लिये अथवा ममत्व से संघ लोको में भी सावद्य की अभिलाषा रखता है परन्तु क्या सोने की छुरी को भी पेट में मारी जाय तो वह क्षणभर में प्राण का नाश नहीं कर सकती है ?"

रङ्कः कोऽपि जनाभिभूतिपदवीं त्यक्त्वा प्रसादाद्गुरो-
र्वेषं प्राप्य यतेः कथञ्चन कियच्छास्त्रं पदं कोऽपि च ।
मौखर्यादिवशीकृतर्जुजनतादानार्चनैर्गर्वभाग्-
आत्मानं गणेयन्नरेन्द्रमिव धिग्गन्ता द्रुतं दुर्गतौ ॥५०॥

अर्थ - "कोई गरीब-रंक पुरुष लोगों के अपमान योग्य स्थान को छोड़कर गुरुमहाराज की कृपा से मुनि का वेश धारण करता है, कुछ शास्त्र का अभ्यास करता है और किसी पदवी का उपार्जन करता है, तब अपनी वाचालता से भद्र लोगों को वशीभूत करके वे रागी लोग जो दान और पूजा करते हैं उससे स्वयं अभिमान करता है और अपने आपको बादशाह समझता है ऐसे को बारम्बार धिक्कार है ! ये शीघ्र ही दुर्गति में जानेवाले हैं (अनन्त द्रव्यलिंग भी ऐसी दशा में व्यवहार करने से निष्फल हुए हैं ।)"

प्राप्यापि चारित्रमिदं दुरापं,
स्वदोषजैर्यद्विषयप्रमादैः ।
भवाम्बुधौ धिक् पतितोऽसि भिक्षो !,
हतोऽसि दुःखैस्तदनन्तकालम् ॥५१॥

अर्थ - "अत्यन्त कष्ट से भी कठिनता से प्राप्त होनेवाले चारित्र को ग्रहण करके अपने दोष से उत्पन्न किये विषय और प्रमाद के कारण हे भिक्षु ! तू संसारसमुद्र में गिरता जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप तुझे अनन्तकाल तक दुःख भोगना पड़ेगा ।"

कथमपि समवाप्य बोधिरत्नं,
युगसमिलादिनिदर्शनाद्दुरापम् ।
कुरु कुरु रिपुवश्यतामगच्छन्,
किमपि हितं लभसे यतोऽर्थितं शम् ? ॥५२॥

अर्थ – "युगसमिला आदि सुप्रसिद्ध दृष्टान्तों के द्वारा महान् कठिनता से प्राप्त होनेवाले बोधिरत्न (समकित) को प्राप्त कर लेने पर शत्रुओं के वशीभूत न होकर कुछ आत्महित कर, जिससे मनोवाञ्छित सुख की प्राप्ति हो।"

द्विषस्तित्वमे ते विषयप्रमादा,
असंवृता मानसदेहवाचः ।
असंयमाः सप्तदशापि हास्या-
दयश्च बिभ्यच्चर नित्यमेभ्यः ॥५३॥

अर्थ – "तेरे शत्रु-विषय, प्रमाद, निरंकुश मन, शरीर और वचन, सत्तर असंयम के स्थान और हास्यादि ६ हैं। इनसे तू निरन्तर सचेत होकर (भय करके) चलना।"

गुरूनवाप्याप्यपहाय गेह-
मधीत्य शास्त्राण्यपि तत्त्ववाञ्चि ।
निर्वाहचिन्तादिभराद्यभावेऽ !
प्यूषे न किं प्रेत्य हिताय यत्नः ? ॥५४॥

अर्थ – "हे यति ! महान् गुरु की प्राप्ति हुई है, घर-

बार को छोड़ा, तत्त्व प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों का अभ्यास किया और निर्वाह आदि चिन्ताओं का भार हट गया, फिर भी परभव के हित के लिये यत्न क्यों नहीं करता है ?''

विराधितैः संयमसर्वयोगैः,
पतिष्यतस्ते भवदुःखराशौ ।
शास्त्राणि शिष्योपधिपुस्तकाद्या,
भक्ताश्च लोकाः शरणाय नालम् ।।५५।।

अर्थ – ''संयम के सर्व योगों की विराधना करने से तू भव दुःख के ढेर में पड़ेगा तब शास्त्र, शिष्य, उपधि, पुस्तक और भक्त लोग आदि कोई भी तुझे शरण देने में समर्थ न होंगे ।''

यस्य क्षणोऽपि सुरधामसुखानि पल्य–
कोटीर्नृणां द्विनवतीं ह्यधिकां ददाति ।
किं हारयस्यधम ! संयमजीवितं तत्,
हा हा प्रमत्त ! पुनरस्य कुतस्तवाप्तिः ? ।।५६।।

अर्थ – ''जिस (संयम) का एक क्षण (मुहूर्त्त) भी बानवे क्रोड़ पल्योपम से अधिक समय तक देवलोक के सुख को देता है, ऐसे संयम जीवन को हे अधम ! तू क्यों हार जाता है ? हे प्रमादी ! तुझे फिर से इस संयम की प्राप्ति कैसे होगी ?''

नाम्नापि यस्येति जनेऽसि पूज्यः,
शुद्धात्ततो नेष्टसुखानि कानि ।
तत्संयमेऽस्मिन् यतसे मुमुक्षो-
ऽनुभूयमानोरुफलेऽपि किं न ? ॥५७॥

अर्थ - "संयम के नाममात्र से जो भी तू लोगों में पूज्य है तो यदि वह सचमुच शुद्ध हो तो कौन सा इष्ट फल तुझे न मिल सके ? जिस संयम के महान् फल प्रत्यक्ष अनुभव में आये हैं उस संयम के लिये हे यति ! तू यत्न क्यों नहीं करता है ?"

● ● ●

अथ चतुर्दशो मिथ्यात्वादिनिरोधाधिकारः

मिथ्यात्वयोगाविरतिप्रमादान्,
आत्मन् ! सदा संवृणु सौख्यमिच्छन् ।
असंवृता यद्भवतापमेते,
सुसंवृता मुक्तिरमां च दद्युः ॥१॥

अर्थ – "हे चेतन ! यदि तुझे सुख की अभिलाषा हो तो मिथ्यात्व, योग, अविरति और प्रमाद का संवर कर । यदि इनका संवर न किया जाय तो ये संसार का ताप देते हैं, परन्तु यदि इनका उत्तम प्रकार से संवर किया हो तो ये मोक्षलक्ष्मी देते हैं ।"

मनः संवृणु हे विद्वन्नसंवृतमना यतः ।
याति तन्दुलमत्स्यो द्राक्, सप्तमीं नरकावनीम् ॥२॥

अर्थ – "हे विद्वन् ! मन का संवर कर, क्योंकि तन्दुलमत्स्य मन का संवर नहीं करता है तो वह शीघ्र ही सातवीं नरक में जाता है ।"

प्रसन्नचन्द्रराजर्षे-र्मनः प्रसरसंवरौ ।
नरकस्य शिवस्यापि, हेतुभूतौ क्षणादपि ॥३॥

अर्थ – "क्षणभर में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति अनुक्रम से नरक और मोक्ष का कारण हुई ।"

मनोऽप्रवृत्तिमात्रेण, ध्यानं नैकेन्द्रियादिषु ।
धर्म्यशुक्लमनः स्थैर्य-भाजस्तु ध्यायिनः स्तुमः ॥४॥

अर्थ - "मन की प्रवृत्ति न करने मात्र से ही ध्यान नहीं होता है, जैसे कि एकेन्द्रिय आदि में (उनके मन न होने से मन की प्रवृत्ति नहीं है) परन्तु ध्यान करनेवाले प्राणी धर्मध्यान और शुक्लध्यान के कारण मन की स्थिरता के भाजन होते हैं उनकी हम स्तुति करते हैं।"

सार्थं निरर्थकं वा यन्मनः सुध्यानयन्त्रितम् ।
विरतं दुर्विकल्पेभ्यः पारगांस्तान् स्तुवे यतीन् ।।५।।

अर्थ - "सार्थकता से अथवा निष्फल परिणामवाले प्रयत्नों से भी जिनका मन सुध्यान की ओर लगा रहता है और जो खराब विकल्पों से दूर रहते हैं ऐसे-संसार से पार पाये हुए यतियों की हम स्तुति करते हैं।"

वचोऽप्रवृत्तिमात्रेण, मौनं के के न बिभ्रति ।
निरवद्यं वचो येषां, वचोगुप्तांस्तु तान् स्तुवे ।।६।।

अर्थ - "वचन की अप्रवृत्ति मात्र से कौन कौन मौन धारण नहीं करते हैं ? परन्तु हम तो जो वचनगुप्तिवाले प्राणी निरवद्य वचन बोलते हैं उनकी स्तवना करते हैं।"

निरवद्यं वचो ब्रूहि, सावद्यवचनैर्यतः ।
प्रयाता नरकं घोरं, वसुराजादयो द्रुतम् ।।७।।

अर्थ - "तू निरवद्य (निष्पाप) वचन बोल, क्योंकि सावद्य वचन बोलने से वसुराजा आदि घोर नरक में गये हैं।"

इहामुत्र च वैराय, दुर्वाचो नरकाय च ।
अग्निदग्धाः प्ररोहन्ति, दुर्वाग्दग्धाः पुनर्न हि ।।८।।

अर्थ – "दुष्ट वचन इस लोक और परलोक में अनुक्रम से वैर कराते हैं और नरक गति प्राप्त कराते हैं, अग्नि से जला हुआ फिर उगता है परन्तु दुष्ट वचन से जले हुए में फिर से स्नेहांकुर नहीं फूटता है ।"

अत एव जिना दीक्षाकालादाकेवलोद्भवम् ।
अवद्यादिभिया ब्रयुर्ज्ञानत्रयभृतोऽपि न ॥९॥

अर्थ – "इसलिये यद्यपि तीर्थंकर महाराज को तीनों ज्ञान होते हैं फिर भी दीक्षा काल से लेकर केवलज्ञान प्राप्त होने तक पाप के भय से वे कुछ भी नहीं बोलते हैं ।"

कृपया संवृणु स्वाङ्गं, कूर्मज्ञाननिदर्शनात् ।
संवृतासंवृताङ्गा यत्, सुखदुःखान्यवाप्नुयुः ॥१०॥

अर्थ – "(जीव पर) दया करके अपने शरीर पर संवर कर, कछुए के दृष्टान्तानुसार शरीर का संवर करनेवाला और न करनेवाला अनुक्रम से सुख दुःख को भोगता है ।"

कायस्तम्भान्न के के स्युस्तरुस्तम्भादयो यताः ।
शिवहेतुक्रियो येषां, कायस्तांस्तु स्तुवे यतीन् ॥११॥

अर्थ – "एक मात्र काया के संवर से वृक्ष, स्तंभ आदि कौन कौन संयमी न हो सके ? परन्तु जिसका शरीर मोक्षप्राप्ति निमित्त क्रिया करने को उद्यत होता है ऐसे यति की हम स्तुति करते हैं ।"

श्रुतिसंयममात्रेण, शब्दान् कान् के त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ॥१२॥

अर्थ – "कान के संयममात्र से कौन शब्दो को नहीं छोड़ता ? परन्तु इष्ट और अनिष्ट शब्दों पर रागद्वेष छोड़ दे उसे मुनि समझना चाहिये ।"

चक्षुः संयममात्रात्के, रूपालोकांस्त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ॥१३॥

अर्थ – "एक मात्र चक्षु के संयम से कौन रूपप्रेक्षण नहीं छोड़ता ? परन्तु इष्ट और अनिष्ट रूपों में जो रागद्वेष छोड़ देते हैं वे ही सच्चे मुनि हैं ।"

घ्राणसंयममात्रेण, गन्धान् कान् के त्यजन्ति न ? ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनिः ॥१४॥

अर्थ – "नासिका के संयम मात्र से कौन गंधों को नहीं छोड़ता ? परन्तु इष्ट और अनिष्ट गन्धों में रागद्वेष छोड़ देते हैं वे ही मुनि कहला सकते हैं ।"

जिह्वासंयममात्रेण, रसान् कान् के त्यजन्ति न ।
मनसा त्यज तानिष्टान्, यदीच्छसि तपःफलम् ॥१५॥

अर्थ – "जीह्वा के संयममात्र से कौन रसों को नहीं छोड़ता है ? हे भाई ! यदि तू तप के फल मिलने की अभिलाषा रखता है तो सुन्दर जान पड़ने वाले रसों को छोड़ दे ।"

त्वचः संयममात्रेण, स्पर्शान् कान् के त्यजन्ति न ।
मनसा त्यज तानिष्टान्, यदिच्छसि तपः फलम् ॥१६॥

अर्थ – "चमड़े को स्पर्श न करने मात्र से कौन स्पर्श का त्याग नहीं करता ? परन्तु यदि तुझे तप का फल पाना

हो तो इष्ट स्पर्शों का मन से त्याग कर ।"

बस्तिसंयममात्रेण, ब्रह्मके के के न ब्रिभ्रते ।
मनःसंयमतो धेहि, धीर ! चेत्तत्फलार्थ्यसि ॥१७॥

अर्थ – "मूत्राशय के संयममात्र से कौन ब्रह्मचर्य धारण नहीं करता है ? हे धीर ! यदि तुझे ब्रह्मचर्य के फल की अभिलाषा हो तो मन का संयम करके ब्रह्मचर्य का पालन कर ।"

विषयेन्द्रियसंयोगाभावात्के के न संयताः ।
रागद्वेषमनोयोगाभावाद्ये तु स्तवीमि तान् ॥१८॥

अर्थ – "विषय और इन्द्रियों के संयोग न होने से कौन संयम नहीं पालता है ? परन्तु राग-द्वेष का योग जो मन के साथ नहीं होने देते उन्हीं की मैं तो स्तवना करता हूँ ।"

कषायान् संवृणु प्राज्ञ !, नरकं यदसंवरात् ।
महातपस्विनोप्यापुः, करटोत्करटादयः ॥१९॥

अर्थ – "हे विद्वान् तू कषाय का संवर कर । उसका संवर नहीं करने से करट और उत्करट जैसे महातपस्वी भी नरक को प्राप्त हुए हैं ।"

यस्यास्ति किञ्चिन्न तपोयमादि,
ब्रूयात्स यत्तत्तुदतां परान् वा ।
यस्यास्ति कष्टाप्तमिदं तु किं न,
तद्भ्रंशभीः संवृणुते स योगान् ॥२०॥

अर्थ – "जिसके पास तपस्या यम आदि कुछ भी नहीं

हैं वे तो चाहे जैसा भाषण करे अथवा दूसरों को कष्ट पहुंचाए, परन्तु जिन्होंने अत्यन्त कष्ट उठाकर तपस्यादि को प्राप्त किया है वे इसके नाश हो जाने के भय से योग का संवर क्यों नहीं करते हैं ?''

भवेत्समग्रेष्वपि संवरेषु,
परं निदानं शिवसंपदां यः ।
त्यजन् कषायादिजदुर्विकल्पान्,
कुर्यान्मनः संवरमिद्धधीस्तम् ॥२१॥

अर्थ – ''मोक्षलक्ष्मी प्राप्त करने का बड़े से बड़ा कारण सब प्रकार के संवरों में भी मन का संवर है, ऐसा समझकर समृद्ध बुद्धिजीव कषाय से उत्पन्न दुर्विकल्पों का त्यागकर मन का संवर करे ।''

तदेवमात्मा कृतसंवरः स्यात्,
निःसङ्गताभाक् सततं सुखेन ।
निःसङ्गभावदथ संवरस्तद्द,
द्वयं शिवार्थी युगपद्व्रजेत ॥२२॥

अर्थ – ''ऊपर कहे अनुसार जिसने संवर कर लिया हो उसकी आत्मा शीघ्र ही बिना किसी प्रयास के निःसंगता का भाजन हो जाती है, अपितु निःसंगता भाव से संवर होता है, अतएव मोक्ष के अभिलाषी जीव को इन दोनों को साथ ही साथ भजना चाहिये ।''

● ● ●

पञ्चदशः शुमवृत्तिशिक्षोपदेशाधिकारः

आवश्यकेष्वातनु यत्नमाप्तो-
दितेषु शुद्धेषु तमोऽपहेषु ।
न हन्त्यभुक्तं हि न चाप्यशुद्धं,
वैद्योक्तमप्यौषधमामयान् यत् ॥१॥

अर्थ – "आप्त पुरुषों द्वारा बतलाये गए शुद्ध और पापों को नाश करने वाले आवश्यकों को करने का यत्न कर, क्योंकि वैद्य की बतलाई हुई औषधि न खाई हो अथवा (खाने पर भी यदि) अशुद्ध हो तो वह रोग का नाश नहीं कर सकती है ।"

तपांसि तन्याद्विविधानि नित्यं,
मुखे कटून्यायति सुन्दराणि ।
निध्नन्ति तान्येव कुकर्मराशिं,
रसायनानीव दुरामयान् यत् ॥२॥

अर्थ – "शुरू में कड़वे लगनेवाले परन्तु परिणाम में सुन्दर दोनों प्रकार के तप सदैव करने चाहिये । वे कुकर्म के ढेर को शीघ्र नष्ट कर देते हैं, जिसप्रकार रसायण दुष्ट रोगों को दूर कर देती है ।"

विशुद्धशीलाङ्गसहस्त्रधारी,
भवानिशं निर्मितयोगसिद्धिः ।
सहोपसर्गांस्तनुनिर्ममः सन्,
भजस्व गुप्तीः समितीश्च सम्यक् ॥३॥

अर्थ – "तू (अठारह हजार) शुद्ध शीलांगों को धारण करने वाला बन, योगसिद्धि निष्पादित बन, शरीर की ममता छोड़कर उपसर्गों को सहन कर, समिति और गुप्ति को भलिभांति धारण कर ।"

स्वाध्याययोगेषु दधस्व यत्नं,
मध्यस्थवृत्त्यानुसरागमार्थीन् ।
अगारवो भैक्षमटाविषादी,
हेतौ विशुद्धे वशितेन्द्रियौघः ॥४॥

अर्थ – "स्वाध्याय ध्यान में यत्न कर, मध्यस्थ बुद्धि से आगम के अर्थ का अनुसरण कर, अहंकार का त्याग कर, भिक्षा निमित्त घूम, इसीप्रकार इन्द्रियों के समूह को वश में करके शुद्ध हेतु में दीनता रहित बन ।"

ददस्व धर्मार्थितयैव धर्म्यान्,
सदोपदेशान् स्वपरादि साम्यान् ।
जगद्धितैषी नवभिश्च कल्पै
ग्रामे कुले वा विहराप्रमत्त ! ॥५॥

अर्थ – "हे मुनि ! तू धर्म प्राप्त करने के हेतु से ऐसे धर्मानुसार उपदेश कर जो स्व और पर के सम्बन्ध में समापन प्रतिपादन करनेवाले हों । तू संसार की भलाई की इच्छा रखकर, प्रमाद रहित होकर, ग्राम अथवा कुल में नवकल्पी विहार कर ।"

कृताकृतं स्वस्य तपोजपादि,
शक्तीरशक्तीः सुकृतेतरे च ।
सदा समीक्षस्व हृदाथ साध्ये,
यतस्व हेयं त्यज चाव्ययार्थी ॥६॥

अर्थ – "तप, जप आदि तूने किये हैं या नहीं, उत्तम कार्य और अनुत्तम कार्यों के करने में शक्ति अशक्ति कितनी है इन सभी बातों का सदैव अपने हृदय में विचार कर। तू मोक्षसुख का अभिलाषी है इसलिये करने योग्य (हो सके ऐसे) कार्यों के लिये प्रयत्न कर और त्यागने योग्य कार्यों का परित्याग कर।"

परस्य पीडापरिवर्जनात्ते,
त्रिधा त्रियोग्यप्यमला सदास्तु ।
साम्यैकलीनं गतदुर्विकल्पं,
मनोवचश्चाप्यनघप्रवृत्तिः ॥७॥

अर्थ – "दूसरे जीवों को तीनों प्रकार की पीड़ा न पहुंचाने से तेरे मन, वचन और काया के योगों की त्रिपुटी निर्मल होती है, मन एक मात्र समता में ही लीन हो जाता है, अपितु वह उसका दुर्विकल्प छोड़ देता है और वचन भी निरवद्य व्यापार में ही प्रवृत्त रहता है।"

मैत्रीं प्रमोदं करुणां च सम्यक्,
मध्यस्थतां चानय साम्यमात्मन् ! ।
सद्भावनास्वात्मलयं प्रयत्नात्,
कृताविरामं रमयस्व चेतः ॥८॥

अर्थ – "हे आत्मन् ! मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थता की उत्तम रीति से अभिलाषा रख, और (उसके द्वारा) समताभाव प्रगट कर । प्रयत्न द्वारा सद्भावना रखकर आत्मलय में बिना किसी रुकावट के (अपने) मन को क्रीड़ा करा ।"

कुर्यान्न कुत्रापि ममत्वभावं,
न च प्रभो रत्यरती कषायान् ।
इहापि सौख्यं लभसेऽप्यनीहो,
ह्यनुत्तरामर्त्यसुखाभमात्मन् ! ॥९॥

अर्थ – "हे समर्थ आत्मा ! किसी भी वस्तु पर ममत्वभाव न रख, इसीप्रकार रति अरति और कषाय भी न कर । जब तू वांछारहित हो जायगा उस समय तो अनुत्तर विमान में रहनेवाले देवताओं का सुख भी तुझे यहीं प्राप्त होगा ।"

इति यतिवरशिक्षां योऽवधार्य व्रतस्थ–
श्चरणकरणयोगानेकचित्तः श्रयेत ।
सपदि भवमहाब्धिं क्लेशराशिं स तीर्त्वा,
विलसति शिवसौख्यानन्त्यसायुज्यमाप्य ॥१०॥

अर्थ – "यतिवरों के सम्बन्ध में (उपरोक्तानुसार) बताई हुई शिक्षा जो व्रतधारी (साधु और उपलक्षण से श्रावक) एकाग्रह चित्त से हृदय में धारण करते हैं और चारित्र तथा क्रिया के योगों का पालन करते हैं वे संसारसमुद्र रूप क्लेश के समूह को एकदम तैरकर मोक्ष के अनन्त सुख में तन्मय होकर आनन्द करते हैं ।"

अथ षोडशः साम्यसर्वस्वाधिकारः

एवं सदाभ्यासवशेन सात्म्यं,
नयस्व साम्यं परमार्थवेदिन् ।
यतः करस्थाः शिवसंपदस्ते,
भवन्ति सद्यो भवभीतिभेत्तुः ॥१॥

अर्थ – "हे तात्त्विक पदार्थ के जाननेवाले ! इसप्रकार (ऊपर पन्द्रह द्वारों में कहे अनुसार) निरन्तर अभ्यास के योग से समता को आत्मा के साथ जोड़ दे, जिससे भव के भय को भेजनेवाले तुझे मोक्षसम्पत्तियाँ शीघ्र हस्तगत हो सके ।"

त्वमेव दुःखं नरकस्त्वमेव,
त्वमेव शर्मापि शिवं त्वमेव ।
स्वमेव कर्माणि मनस्त्वमेव,
जहीह्यविद्यामवधेहि चात्मन् ! ॥२॥

अर्थ – "हे आत्मन् ! तू ही दुःख, तू ही नरक, तू ही सुख और मोक्ष भी तू ही है । अपितु तू ही कर्म और मन भी तू ही है । अविद्या को छोड़ दे और सावधान हो जा ।"

निःसङ्गतामेहि सदा तदात्म-
न्नर्थेष्वशेषेष्वपि साम्यभावात् ।
अवेहि विद्वन् ! ममतैव मूलं,
शुचां सुखानां समतैव चेति ॥३॥

अर्थ – "हे आत्मन् ! सर्व पदार्थों पर सदैव समताभाव रखकर निःसंगता प्राप्त कर । हे विद्वन् ! तू जान लेना कि

दुःख का मूल ममता ही है और सुख का मूल समता ही है।"

स्त्रीषु धूलिषु निजे च परे वा,
सम्पदि प्रसरदापदि चात्मन् ! ।
तत्त्वमेहि समतां ममतामुग्,
येन शाश्वतसुखाद्वयमेषि ॥४॥

अर्थ – "स्त्री पर से और धूल पर से, अपने पर से और दूसरों पर से, सम्पत्ति पर से और विस्तृत आपत्ति पर से ममता हटाकर हे आत्मन् ! तू समता रख, जिससे शाश्वत सुख के साथ ऐक्य हो।"

तमेव सेवस्व गुरुं प्रयत्ना,
दधीष्व शास्त्राण्यपि तानि विद्वन् ! ।
तदेव तत्त्वं परिभावयात्मन् !,
येभ्यो भवेत्साम्यसुधोपभोगः ॥५॥

अर्थ – "उसी गुरु की सेवा कर, उसी शास्त्र का अभ्यास कर और हे आत्मन् ! उसी तत्त्व का तू चिन्तन कर, जिससे तुझे समतारूप अमृत का स्वाद मिल सके।"

समग्रसच्छास्त्रमहार्णवेभ्यः,
समुद्धृतः साम्यसुधारसोऽयम् ।
निपीयतां हे विबुधा ! लभध्व
मिहापि मुक्तेः सुखवर्णिकां यत् ॥६॥

अर्थ – "इस समता अमृत का रस बड़े बड़े समग्र

शास्त्रसमुद्रों में से उद्धृत किया गया है। हे पंडितो ! तुम इस रस का पान करो और मोक्ष सुख की वानगी यहीं पर चखो।"

शान्तरसभावनात्मा, मुनिसुन्दरसूरिभिः कृतो ग्रन्थः ।
ब्रह्मस्पृहया ध्येयः, स्वपरहितोऽध्यात्मकल्पतरुरेषः ॥७॥

अर्थ – "शान्तरस भावना से भरपूर अध्यात्म ज्ञान के कल्पवृक्ष (अध्यात्मकल्पद्रुम) ग्रन्थ की श्रीमुनिसुन्दरसूरि ने अपने और पराये के हित के लिये रचना की है इसका ब्रह्म (ज्ञान और क्रिया) प्राप्त करने की इच्छा से अध्ययन कर।"

इममिति मतिमानधीत्यचित्ते,
रमयति यो विरमत्ययं भवाद् द्राक् ।
स च नियतमतो रमेत चास्मिन्,
सह भववैरिजयश्रिया शिवश्रीः ॥८॥

अर्थ – "जो बुद्धिमान् पुरुष इस ग्रन्थ का अध्ययन कर इसको चित्त में रमण कराते हैं वे अल्पकाल में ही संसार से विरक्त हो जाते हैं और संसाररुप शत्रु के जय की लक्ष्मी के साथ मोक्षलक्ष्मी की क्रीड़ा अवश्य करते हैं।"

● ● ●

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार परिचय

(१) शा. सरेमल जवेरचंदजी बेडावाला परिवार द्वारा स्वद्रव्य से संवत् २०६३ में निर्मित...

(२) गुरुभगवंतो के अभ्यास के लिये २५०० प्रताकार ग्रंथ व २१००० से ज्यादा पुस्तको के संग्रह में से ३३००० से ज्यादा पुस्तके इस्यु की है...

(३) श्रुतरक्षा के लिए ४५ हस्तप्रत भंडारो को डिजिटाईजेशन के द्वारा सुरक्षित किया है और उस में संग्रहित ८०००० हस्तप्रतो में से १८०० से ज्यादा हस्तप्रतो की झेरोक्ष विद्वान गुरुभगवंतो को संशोधन संपादन के लिये भेजी है...

(४) जीर्ण और प्रायः अप्राप्य २२२ मुद्रित ग्रंथो को डिजिटाईजेशन करके मर्यादित नकले पुनः प्रकाशित करके श्रुतरक्ष व ज्ञानभंडारो को समृद्ध बनाया है...

(५) अहो ! श्रुतज्ञानम् चातुर्मासिक पत्रिका के ४६ अंक श्रुतभक्ति के लिये स्वद्रव्य से प्रकाशित किये है...

(६) ई-लायब्रेरी के अंतर्गत ९००० से ज्यादा पुस्तको का डिजिटल संग्रह पीडीएफ उपलब्ध है, जिसमें से गुरुभगवंतो की जरुरियात के मुताबिक मुद्रित प्रिन्ट नकल भेजते है...

(७) हर साल पूज्य साध्वीजी म.सा. के लिये प्राचीन लिपि (लिप्यंतरण) शीखने का आयोजन...

(८) बच्चों के लिये अंग्रेजी में सचित्र कथाओं को प्रकाशित करने का आयोजन...

(९) अहो ! श्रुतम् ई परिपत्र के द्वारा अद्यावधि अप्रकाशित आठ कृतिओं को प्रकाशित की है...

(१०) नेशनल बुक फेर में जैन साहित्य की विशिष्ट प्रस्तुति एवं प्रचार प्रसार।

(११) पंचम समिति के विवेकपूर्ण पालन के लिये उचित ज्ञान का प्रसार एवं प्रायोगिक उपाय का आयोजन।

(१२) चतुर्विध संघ उपयोगी प्रियम् के ६० पुस्तको का डिजिटल प्रिन्ट द्वारा प्रकाशन व गुरुभगवंत व ज्ञानभंडारो के भेट।

● ● ●

: ज्ञान द्रव्य से लाभार्थी :

श्री मुनिसुव्रतस्वामी श्वेताम्बर मूर्ति पूजक जैन संघ

210/212, कोकरन बेसिन रोड,
विद्यासागर ओसवाल गार्डन,
कुरूक्कुपेट, चेन्नई 600021

BALARAM OFFSET
+91-9898034899